ॐ श्रीपरमात्मने नमः

कल्याण

वर्ष ५१] [अङ्क ५

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(संस्करण १,५१,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर ज्येष्ठ, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०३, मई १९७७

चित्र-सूची

Free of Charge] जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥ [बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक, मुद्रक एवं प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर
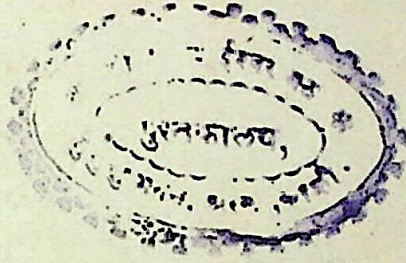
भगवान् शिवाशिव के चरणों में (आदिपूज्य) श्रीगणेश

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

वेदा येन समुद्धृता वसुमती पृष्ठे धृताप्युद्धृता दैत्येशो नखरैर्हतः फणिपतेर्लोकं बलिः प्रापितः ।
क्ष्माऽक्षत्रा जगती दशास्यरहिता माता कृता रोहिणी हिंसा दोषवती धराप्ययवना पायात् स नारायणः ॥

वर्ष ५१ } गोरखपुर, सौर ज्येष्ठ, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०३, मई १९७७ { संख्या ५ पूर्ण संख्या ६०६

प्रथम पूज्य श्रीगणेशजी

'प्रथम पूज्य हो कौन सुरोंमें ?' खड़ा हुआ यह वाद दुरन्त ।
'कर आये जो, प्रथम प्रदक्षिण पृथिवीका वारिधि पर्यन्त' ॥
चले देव ले निज-निज वाहन, अमित वेगसे गर्व अनन्त ।
मूषक-वाहन श्रीगणेशने, पितृ-परिक्रम किया तुरन्त ॥
पूज शिवा-शिवको सादर वे, प्रथम पूज्य हो गये सुसंत ।
श्रीचरणोंमें जा छुप बैठे, शास्त्र-प्रसिद्ध यह है उदन्त ॥
इनके ध्यान-नमनसे सारे, विघ्नोंका हो जाय निरन्त ।
अखिल विश्वमें मंगल होवे, जय-जय सिद्धि-बुद्धिके कन्त ॥

कल्याण

साधकको शरीरकी विशेष चिन्ता नहीं करनी चाहिये। शरीरसे भगवान्‌का भजन और भगवत्स्वरूप जगत्‌के प्राणियोंकी सेवा बने, इसीमें उसकी सार्थकता है; नहीं तो शरीर नरक-तुल्य है और ऐसे शरीरको धारण किये रहना नरकरूपसे ही जीना है। किसी विद्वान्‌ने कहा है—'को वास्ति घोरो नरकः स्वदेहः।'

और श्रीतुलसीदासजी महाराज भी कहते हैं—

ते नर नरकरूप जीवत जग भव-भंजन-पद-बिमुख अभागी।

(विनयपत्रिका १४०। १)

इसलिये जबतक शरीर भीषण रोगोंसे आक्रान्त नहीं हो जाता, तबतक इससे भजन और सेवाका काम भलीभाँति लेना चाहिये। आरामतलबी बहुत बुरी है। रात-दिन शरीरको धोने-पोंछने और सजानेमें लगे रहना और इसीकी चिन्तामें रमे रहना जरा भी बुद्धिमानी नहीं है—

अमेध्यपूर्णे कृमिजालसंकुले
स्वभावदुर्गन्धिविनिन्दितान्तरे।
कलेवरे मूत्रपुरीषभाविते
रमन्ति मूढा विरमन्ति पण्डिताः॥

(विवेकचूडा०)

ऐसे रक्त-मांस, मज्जा और कीटाणुओंसे भरे, दुर्गन्ध-पूर्ण मल-मूत्रसे युक्त शरीरके लिये, उसके भोग-विलासके लिये भगवान्‌को भूले रहना बहुत बड़ी मूर्खता है। शरीर और शरीरका सुख कितने दिनोंका है? जन्म-मृत्यु और जरा-व्याधिसे ग्रस्त इस देहका कोई भरोसा नहीं, कब नष्ट हो जाय। इसमें और इसके सम्बन्धी विषयोंमें सुख समझना सर्वथा मोहका ही कार्य है। चिन्ताकी बात तो यही है कि मनुष्य शरीरकी सेवामें और इसके लिये भोगोंके जुटानेमें ही दिन-रात व्यस्त रहता है; उसे स्वाद-शौकीनी, धन-पुत्र, स्त्री-सुख, आदिमें ही रसकी भ्रान्त अनुभूति होती रहती है। अलौकिक भगवदीय प्रेमरसके समीप तो वह जाना ही नहीं चाहता। कितने दुःखकी बात है यह कि मनुष्य जान-बूझकर नरकको और उसकी दीर्घकालव्यापिनी यन्त्रणाओंको तो सिर चढ़ाकर स्वीकार कर लेता है; परंतु जिसकी जरा-सी झाँकीसे सारे दुःख सदाके लिये मिट जाते हैं, जिसके ध्यान-मात्रसे प्राणोंमें अमृतका झरना फूट निकलता है, जिसकी लीला-कथाके कथन और श्रवणका प्रेम अनन्त जीभों और कानोंकी उसके प्रति अदम्य कामनाएँ जगा देता है, जिसके रूप, गुण और नामकी महिमा जीवको नरकोंसे निकालकर दिव्यधाममें पहुँचा देती है, उस भगवान्‌से वह सदा दूर रहना चाहता है!

अतः यही प्रार्थना है कि इस बातको अच्छी तरह समझिये और शरीरका मोह छोड़कर उसे आरामतलबीसे छुड़ाकर भगवान्‌की सेवामें लगानेका प्रयत्न कीजिये। निश्चित समझिये—शरीरके पालन-पोषणमात्रसे कभी सुख नहीं मिलेगा। न तो यह हजार पालन-पोषण करनेपर भी बीमारी और मौतसे ही बचा रहेगा और न इसकी सेवा सुख-शान्ति ही देगी। शरीरका पालन-पोषण तो कुत्ते-सूअर आदि भी करते हैं। वे भी खाते, पीते, सोते और मैथुन करते हैं। जो मनुष्य भगवान्‌का भजन नहीं करता, वह तो दर-दर दुरदुराये जानेवाले कुत्ते, इधर-उधर मल खाकर भटकनेवाले सूअर, काँटे खाकर जीनेवाले ऊँट और दिन-रात बोझ ढोनेवाले गधेके समान ही है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—'वह हृदय पत्थरके तुल्य है, जो भगवान्‌के नाम-गुण-कीर्तनको सुनकर गद्गद नहीं होता, जिसके शरीरमें रोमाञ्च नहीं होता और आँखोंमें आनन्दके आँसू नहीं उमड़ आते। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराजने भी दोहावलीमें कहा है—

हिय फाटहुँ फूटहुँ नयन, जरउ सो तन केहि काम।
द्रवहिं स्रवहिं पुलकइ नहीं, तुलसी सुमिरत राम॥

अतः श्रीभगवान्‌की प्राप्तिके प्रयत्नमें हमें तीव्र शक्तिसे तुरंत पूर्णतया लग जाना चाहिये।—'श्रीभाईजी'

आध्यात्मिक उन्नतिसे ही सुख-शान्ति

(अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शंकराचार्य उत्तराम्नाय बदरीक्षेत्रस्थ ज्योतिष्पीठाधीश्वर स्वामी श्रीस्वरूपानन्दजी महाराज)

शान्ति सौख्यकी जननी है, यह एक सार्वभौम सिद्धान्त है। इसके अनुसार प्रत्येक मनुष्य अपने सुख-रूप पुरुषार्थकी सिद्धिके लिये शान्तिकी खोज करता है। उसकी यह गवेषणा जीवनके अथसे लेकर इतितक चलती रहती है। किंतु कदाचित् ही किसीको उसकी अनुभूति हो पाती है। सभी प्राणी पूर्वजन्मके संस्कारों-को साथ लेकर ही जन्म लेते हैं। प्रारम्भमें संस्कार अनुद्बुद्ध दशामें रहते हैं, पर उद्बोधक सामग्रीके उपस्थित होनेपर वे विविध वासनाओंका निर्माण करते हैं। प्राणीकी देह, देश, काल, परिस्थिति, सम्पर्क और प्रारब्ध-भोग ही संस्कारोंको जाग्रत् करनेवाली सामग्री हैं। इन्हीं संस्कारोंसे प्रेरित होकर वह किसी प्राणी, पदार्थ, अवस्था या परिस्थितिमें सुख-बुद्धि करके उसीमें अपनी वासना दृढ कर लेता है। जो वासना दृढ हो जाती है, वह जीवनका लक्ष्य बन जाती है। फिर तो वह इसीके आसपास घूमता रहता है। इस प्रकारके लक्ष्यकी प्राप्ति बहुत दुर्लभ नहीं है। बहुतोंको लम्बी प्रतीक्षा और प्रयत्नके पश्चात् तथा अनेकको सहज ही उसकी प्राप्ति हो जाती है। अभीप्सित—प्राणी, पदार्थ, अवस्था या परिस्थितिकी प्राप्तिके पूर्व उनके प्रति धारणा तो यही रहती है कि इनकी प्राप्तिके साथ ही शान्ति-की भी उपलब्धि होगी और उनकी खोज पूर्ण हो जायगी, किंतु जब अन्वेषक उस अवस्थापर पहुँचता है, तब अपनी कल्पनाके सर्वथा विपरीत स्वयंको पहलेसे भी अधिक अशान्त पाता है। उसकी खोज या दौड़ पुनः प्रारम्भ होती है, पर इसी प्रकारकी कल्पना और इसके सजातीय लक्ष्यकी वासनाको ही आगे करके सारा संसार आज इसी मृगतृष्णाके पीछे प्रबल वेगसे दौड़ रहा है। जिस प्रकार द्वेषके द्वारा निर्धारित लक्ष्यकी प्राप्तिका पर्य-वसान अशान्तिमें होता है, उसी प्रकार रागसे निर्धारित लक्ष्यकी प्राप्तिका भी पर्यवसान अशान्तिमें ही होता है।

आज मानव-जातिकी मानसिक स्थिति चिन्ताजनक हो गयी है। हमारे विचार और निश्चय आवेगमय हैं। एक ओर हमारी उद्दाम वासनाओंने और दूसरी ओर जीवनकी कठिनाइयोंने हमें उद्विग्न बना दिया है। बाह्य परिस्थितियोंसे हम अत्यधिक प्रभावित हो गये हैं। सबसे अधिक चिन्ताका विषय तो यह है कि भारतीयोंके अन्तःकरणमें जिन उपनिषद् और गीताकी शिक्षाओंने परम्परागत संस्कारके रूपमें स्थान ग्रहण कर लिया था और जिन दैवीसम्पद्के सद्गुणोंको हम बहुत कुछ अंशोंमें आत्मसात् कर चुके थे, उनको अपनी प्रगतिका रोड़ा समझकर छोड़ते जा रहे हैं। हमारी समझमें यह बात नहीं आ रही है कि भौतिक उन्नतिके चरम शिखरपर अधिरूढ होकर भी इन सच्छिक्षाओं और सद्गुणोंके बिना मनुष्य सुख-शान्ति कैसे प्राप्त कर सकेगा। भौतिक उन्नतिकी दौड़में आध्यात्मिक गुणोंको खो बैठना बुद्धिमानी नहीं। इस दुरवस्थाका कारण है, जीवनके शाश्वत लक्ष्यके निर्धारणका अभाव या अनास्था। आज नैतिक शिक्षाकी अनिवार्यताका अनुभव अधिकांश विचारक कर रहे हैं, किंतु इस प्रकारकी शिक्षाका उद्देश्य उनकी दृष्टिमें कतिपय सामाजिक अव्यवस्थाओंके निराकरणतक ही सीमित है। परंतु जबतक हमारी शिक्षाका सम्बन्ध हमारी आध्यात्मिक उन्नतिसे नहीं जुड़ेगा, तबतक वह हमारे हृदयके गम्भीरतम स्थलको स्पर्श नहीं कर सकेगी—हम उसे आत्मसात् करके

सहज संस्कारका रूप न दे सकेंगे। वस्तुतः धार्मिक-आध्यात्मिक शिक्षाओंकी लौकिक सप्रयोजनताका सिद्धान्त मूलतः गलत है। इसमें उपदेष्टाके किसी प्रकारके स्वार्थकी गन्ध आती है। अतएव सद्गुणोंकी साधनाका अङ्ग बनाकर शाश्वत साध्यकी प्राप्तिके लिये सतत प्रयत्नशील होकर ही हम अपनी रक्षा कर सकते हैं। इसीके द्वारा आनुषङ्गिकरूपसे हमारी वैयक्तिक और सामाजिक समस्याओंका भी समाधान किया जा सकता है।

मितभाषण—आध्यात्म-कला-साधना

(लेखक—श्रीगोरखनाथ सिंहजी, एम्०ए०)

यदि वाणी मनुष्यके लिये वरदान है, तो मितभाषण उसकी तपस्या और शान्ति उसके लिये परम-पुरुषार्थ है। गीतामें कहा गया है;—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्। स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः। भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥

(१७। १५-१६)

यहाँपर '*अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च*' मितभाषणका प्रतीक तथा वाणीका तप भी है। थोड़े शब्दोंमें मितभाषणका अर्थ है—कम-से-कम शब्दोंमें यथार्थभावको व्यक्त करना। वैसे यह एक अनुभूत तथ्य है कि मितभाषणका अतिक्रमण करनेपर (अनर्गल-प्रलापमें) हम अपना मानसिक संतुलन खो बैठते हैं, इससे मानसिक तथा शारीरिक-शक्तिका अपव्यय होता है। विशेषतः हमारी नेत्रज्योतिपर इसका कुप्रभाव पड़ता है।

मितभाषणका अभ्यास सतत-साधनापर निर्भर है। साधना जीवनमें विना युक्त-आहार-विहारके सम्भव नहीं है। यही कारण है, गीतामें श्रीकृष्ण भगवान्ने 'युक्त-आहार-विहार' पर विशेष बल दिया है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु। युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

(६। १७)

वाङ्मयी अर्थात् वाणीकी तपस्यासे शान्ति-चिरशान्ति मिलती है। वाङ्मय-तपके लिये मितभाषण नितान्त उपेय है।

पाश्चात्य विचारक क्रोंचेके अनुसार कलाका आधार अभिव्यक्ति है। अभिव्यक्तिके आधारोंमें वाणीका विशेष महत्त्व है, क्योंकि संतुलित-शब्द-माध्यमसे ही कलाकी उत्पत्ति होती है। अतः मितभाषण भी एक प्रकारकी कला है। इस कलाके माध्यमसे ही—'*सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्*'की साधना की जा सकती है और इससे जीवनके चरम लक्ष्य परम-पुरुषार्थ—आत्मकल्याण या भगवत्प्राप्तिको प्राप्त किया जा सकता है।

ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

[पारमार्थिक प्रश्नोत्तर]

[क]

(१) गीताके दसवें अध्यायमें भगवान्‌ने जो जपयज्ञको अपनी विभूतियोंमें गिनाया है, यह जप भगवान्‌के किसी भी नामका जप माना जा सकता है। जिस साधकको भगवान्‌का जो नाम प्रिय हो, जिसमें उसकी श्रद्धा और प्रेम हो, जिसका उच्चारण करते ही उसको भगवान् याद आते हों, भगवान्‌की मधुर स्मृति होती हो, वही नाम उसके लिये सर्वोत्तम है।

अर्जुनको तो भगवान् श्रीकृष्णने अपना ही स्मरण करनेके लिये बार-बार कहा है। पर वे भगवान् एक ही रूपमें नहीं हैं। अतः उनको जो साधक जैसा मानकर उनका भजन-ध्यान करता है, उसके लिये वे वैसे ही हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। यह बात उन्होंने गीताके चौथे अध्यायके ११ वें श्लोकमें स्पष्ट कर दी है।

'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इस मन्त्रका भाव यह है कि सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् वासुदेवको मेरा नमस्कार है। इसका जप करते समय 'जो सर्वत्र निवास करे, वह वासुदेव'—यह अर्थ मानकर निर्गुण-निराकार, सच्चिदानन्द भगवान्‌का ध्यान किया जा सकता है और 'वसुदेवपुत्र वासुदेव' यह अर्थ मानकर भगवान् श्रीकृष्णके किसी भी लीला-विग्रहका ध्यान किया जा सकता है।

आपने इसके फलकी बात पूछी, सो फल तो जापकके भावपर निर्भर है। उसकी सीमा नहीं बाँधी जा सकती। प्रभुके नाम और ध्यानका फल अनन्त है; क्योंकि प्रभु स्वयं अनन्त हैं।

(२) आप जो अपनेको मुसीबतमें फँसा मानते हैं, इसका कारण एकमात्र प्रभुकी कृपाका आदर न करना ही है। वास्तवमें तो प्रत्येक परिस्थिति साधन-सामग्री ही है। उसका प्रभुके नाते सदुपयोग करना चाहिये। ऐसा करनेसे साधक परमात्माको प्राप्त कर सकता है।

स्वास्थ्य ठीक रहना और न रहना—यह तो पूर्वकृत कर्मोंका भोग है। शरीरसे मोहकी निवृत्तिके लिये स्वास्थ्य ठीक न रहना भी आवश्यक है। विद्या प्राप्त करनेका उद्योग तो यथासाध्य करना ही चाहिये।

साधकको चाहिये कि किसी भी कामको अपना काम न समझे। अपने कर्त्तव्यको प्रभुके नाते उन्हींकी दी हुई सामग्रीसे उनकी प्रसन्नताके लिये करता रहे।

भजनमें मन न लगनेका कारण तो जिनका भजन करना है, उनसे सम्बन्ध न होना ही हो सकता है। अतः प्रभुपर दृढ़ विश्वास करके उनको अपना मान लेनेपर प्रभुका भजन आप ही होगा।

सब घरवालोंकी अशान्ति मिटाना आपके हाथकी बात नहीं है। यह तो प्रभुकी कृपासे ही हो सकता है। पर आप कामनाका त्याग करके बड़ी सुगमतासे शान्ति प्राप्त कर सकते हैं।

काम-धंधेमें विघ्न आनेका कारण तो प्रमाद ही है। अतः उसमें सावधानीकी आवश्यकता है।

सब प्रकारके विघ्नोंके नाशका उपाय संसारसे ममता और सुखकी कामनाका त्याग करके एकमात्र प्रभुके शरणापन्न हो जाना है। भगवान्‌का शरणापन्न भक्त अवश्य ही सदाके लिये परम सुखी हो जाता है, इसमें कोई संदेह नहीं।

(३) आपके मनमें जो अशान्ति हो रही है, उसके कारणरूप कामना, आसक्ति और अहंकार आदिको जबतक आप नहीं मिटायँगे, तबतक गीताप्रेसकी पुस्तकें या कोई भी मनुष्य आपकी सहायता कैसे कर सकता है? पुस्तकें और सलाह देनेवाले तो आपको वही बात बता सकते हैं, जो ज्ञान प्रभुकी कृपासे आपके हृदयमें पहलेसे ही मौजूद है। पर आप जानते हुए भी वह काम करते रहें, जो नहीं करना चाहिये और वह काम न करें, जो करना चाहिये तो पुस्तकें

क्या कर सकती हैं या कोई क्या कर सकता है ? अतः आप अपनी जानकारीका आदर करें; यही एक सार बात है।

(४) ॐकारका चिन्तन और अनहद-शब्द-द्वारा प्रभुके नामका श्रवण भी मनको एकाग्र करनेमें सहायक है।

(५) रोगादिकी निवृत्ति और कामनाओंकी पूर्तिका साधन मुझे ज्ञात नहीं है; क्योंकि कोई भी सर्वथा रोगमुक्त हुआ हो या किसीकी सभी कामनाएँ पूरी हुई हों—ऐसा नहीं देखा जाता। अतः मेरी समझमें तो कामनाओंकी निवृत्तिका साधन ही सर्वथा उपयोगी है।

ईश्वर गुरुओंका भी गुरु है। अतः उसको गुरु मानकर भजन करना बहुत ठीक है। इसमें सभी सद्ग्रन्थोंकी सम्मति है।

गायत्री-मन्त्र वैदिक मन्त्र है, पर इसके जपका अधिकार यज्ञोपवीतधारीको ही है, सबको नहीं।

[ख]

(१) भगवान्‌का भजन-प्रार्थना आदि तो जितना किया जाय, कम ही है, अधिक तो होता ही नहीं तथा भजन करनेवालेमें उसके करनेका न तो अभिमान होता है और न भजन भाररूप ही मालूम होता है। उसे तो भजन करनेमें इतना आनन्द आना चाहिये कि जितना अन्य किसी भी वस्तुसे मिल ही नहीं सकता।

जो भगवान्‌से प्रेम करना चाहता हो, उसकी लौकिक कामनाकी पूर्ति न होना तो उचित ही है। कामना पूरी होनेपर तो उसे जिस वस्तुकी कामना है, उसीमें प्रेम होगा, भगवान्‌में नहीं।

श्रद्धा और प्रेम केवल मौखिक प्रार्थनासे नहीं होता। क्योंकि जबतक मनुष्य संसारके व्यक्तियोंमें और नाना प्रकारकी वस्तुओंमें विश्वास करता है और आसक्त रहता है, उन्हींसे सुख मिलनेकी आशा लगाये रहता है, तबतक उसका प्रभुपर पूरा विश्वास और उनका विशुद्ध प्रेम उसे कैसे मिल सकता है ? अन्य सबपर विश्वास न रहनेपर भगवान्‌पर अटल विश्वास हो सकता है। जिसका कोई नहीं होता, उसका भगवान् होता है। दूसरेसे सुखकी आशाका त्याग कर देनेसे भगवान्‌में प्रेम होता है।

भगवान्‌के नाममें पापोंके पहाड़ नाश करनेकी शक्ति बतायी जाती है, वह ठीक है। पर जो पापोंसे दुःखी हो, उनमें जिसकी सुख-बुद्धि न रह गयी हो और जो पुनः पाप करना नहीं चाहता हो, उसके ही पाप नाम-जपसे नाश होते हैं। नामके बहाने पाप करते रहनेवालेके पाप नाम-जपसे नाश नहीं हो सकते, यह रहस्य है।

किये हुए असत् कर्मोंके फल-भोगसे अन्तःकरण शुद्ध होता है, यह तो अच्छा है। उसे तो भगवान्‌की कृपा मानना चाहिये। प्रतिकूल परिस्थितिसे ही जगत्‌की असारताका ज्ञान होता है और उससे वैराग्य होता है।

भगवान् जितनी क्षमा करते हैं, उतनी दूसरा कर ही नहीं सकता। वे अपने भक्तके मनकी उसी बात-को पूरी करते हैं, जिसमें उसका हित हो। उसकी मनचाही सब बात पूरी करनेमें उसका हित नहीं है—इस बातको भगवान् ही ठीक-ठीक समझते हैं।

भजन-प्रार्थना करनेका उत्साह ढीला पड़ना प्रमाद और नासमझीका परिणाम है। भजन नहीं करेंगे तो क्या करेंगे ? सुख-भोगके लिये जो कुछ करेंगे, वह तो पाप ही होगा, जिसका फल पुनः भोगना पड़ेगा।

शान्ति तो सुख-भोगकी कामनाका त्याग करके भगवान्‌के नाते सबकी सेवा करनेसे, दूसरोंका दोष न देखनेसे, किसीका बुरा न चाहनेसे, किसीका अहित न करनेसे तथा भगवान्‌का भजन-स्मरण करनेसे ही मिल सकती है।

(२) सत्सङ्गमें आनेके लिये यदि आर्थिक कठिनाई हो तो यहाँ (गीता-भवन) आनेकी कोई खास आवश्यकता

नहीं है, वहीं पुस्तकें पढ़कर सत्सङ्गका लाभ उठा सकते हैं। सत्सङ्गका लाभ तो सुनी हुई बातोंको काममें लानेसे ही हो सकता है। जिसको सत्सङ्गके बिना सचमुच चैन नहीं पड़ता, उसे घर बैठे ही भगवान्की कृपासे सत्सङ्ग मिल जाता है, इसमें संदेह नहीं है। मनमें शान्ति न होनेका मुख्य कारण अप्राप्त सुखकी कामना करना है, उसके त्यागसे ही शान्ति मिल सकती है।

भगवान् तो परम दयालु हैं, सदैव आपपर दया करते हैं; इसमें कोई संदेह नहीं। पर आप उनकी दयाका आदर नहीं करते। इस कारण आपको उस दयाके दर्शन विशेष नहीं होते।

सत्सङ्ग तो आपको बहुत बार मिला, पर आजतक आपने दैवी सम्पदा क्यों नहीं प्राप्त कर ली? फिर यह कहना कोई भी समझदार कैसे मान सकता है कि इस बार सत्सङ्ग मिलतेही आप सब कुछ प्राप्त करके ही छोड़ेंगे। सत्सङ्गकी बातें तो आप सब जानते ही हैं, उनको धारण करना ही असली सत्सङ्ग है।

(३) भोग-प्राप्तिकी इच्छाके साथ-साथ भगवत्प्राप्तिकी इच्छा करना कोई विशेष महत्त्वकी बात नहीं है। भोग-वासनाके त्यागके बिना भगवत्प्राप्तिकी इच्छाका होना बहुत ही मन्द साधन है।

आप भगवान् और भक्तोंके आश्रय लेनेकी बात तो कहते हैं। पर आश्रय ले रखा है—भोग सामग्रियोंका। भगवान्का आश्रय है, वह भी भोग-वासनाकी पूर्तिके लिये। तब आपको असली प्रेम कहाँसे मिले?

भगवान्के प्रेमकी लालसा, अपनेमें गुणोंका अभिमान न होनेसे, दूसरोंका दोष न देखनेसे और किसीका बुरा न चाहनेसे अन्तःकरण शुद्ध होनेपर, जब दूसरोंपर जो भूलसे विश्वास और प्रेम कर लिया है, उसे छोड़ देनेपर हो सकती है।

(४) समता और प्रेमकी तीव्र इच्छा होनेपर तो वे मिल ही जाते हैं, मिलनेमें देर नहीं हो सकती। जितनी देर होती है, इच्छाकी कमीसे ही होती है; क्योंकि इनकी प्राप्तिमें कोई कठिनाई नहीं है। इनको प्राप्त करनेमें प्रत्येक मनुष्य स्वतन्त्र और समर्थ है। वह जब चाहे बड़ी सुगमतासे प्राप्त कर सकता है; क्योंकि इसके लिये कोई भी ऐसी परिस्थिति आवश्यक नहीं है, जो उसे प्राप्त नहीं है। जो कुछ प्राप्त है, उसीके सदुपयोगसे समता और प्रेम प्राप्त हो सकते हैं। दुरुपयोग करना छोड़ देनेसे सदुपयोग भी अपने आप होने लगता है। प्रेम देनेके लिये तो भगवान् स्वयं तैयार हैं। मेरी तो ऐसी सामर्थ्य नहीं है कि मैं किसीको भगवान्का प्रेमदान कर सकूँ। पर भगवान् तो स्वयं लालायित रहते हैं कि कोई प्राणी मेरे सम्मुख हो, मुझसे प्रेम करना चाहे।

(५) आपको यदि भगवान्के स्वभावका कुछ-कुछ पता लगा है तो फिर क्या कारण है कि आप उनसे प्रेम नहीं कर सके?

निष्काम भावसे भगवान्के लिये व्यापार करनेमें सुख-भोगकी आसक्तिके सिवा कोई बाधक नहीं है। वह आपके छोड़नेसे ही छूट सकती है, क्योंकि वह आपकी ही मानी हुई है। सत्सङ्ग तो हर समय हरेक जगह मिल सकता है, क्योंकि भगवान्का दिया हुआ विवेक आपके पास है; जिसके बलपर आप दूसरोंको सिखाना चाहते हैं, उसीसे स्वयं भी सीख सकते हैं। इस दृष्टिसे सत्सङ्ग आपके ही भीतर है। अपने विवेककी बात नहीं मानेंगे तो महापुरुषोंके सत्सङ्गसे भी क्या लाभ उठायँगे?

(६) अन्य सब जो विश्वास करनेके लायक नहीं हैं, उन पदार्थों, व्यक्तियों और परिस्थितियोंपरसे विश्वास उठा लेनेसे भगवान्में श्रद्धा हो सकती है। दूसरोंसे राग-द्वेष न करनेपर भगवान्से प्रेम हो सकता है। दूसरोंको अपना न माननेसे भगवान् अपने हो जाते हैं। भगवत्प्रेमकी प्रबल इच्छा उत्पन्न होनेपर अन्य सब इच्छाएँ मिट सकती हैं!

पञ्चामृतम्

[उपनिषद्-सुधासार]

'एवमु चैतदुपास्यम्'—इसी (उपदिष्ट) प्रकारका आचरण करना चाहिये ।

[शिक्षा मानवता और दीक्षा देवत्व प्रदान करती है । दोनोंसे जीवन सर्वथा परिष्कृत होता है । प्राचीन कालमें आचार्य गृहस्थाश्रमकी प्राञ्जलताके लिये शिक्षा-सम्पन्न शिष्यको गुरुकुलका अन्तिम उपदेश देते थे । आज भी अपने देशके विश्वविद्यालय उनकी समसामयिकता और उपयोगिता मानते हुए समावर्तन करनेवाले स्नातकोंको उपाधियाँ देते समय उन्हें दुहराते हैं । स्नातक उनके पालनकी प्रतिज्ञा 'प्रतिजाने' कहकर करते हैं । ये उपदेश गृहस्थाश्रमीके लिये अत्यन्त उपादेय हैं]

कुल-गुरुके उपदेश— (१)

सत्य बोलो—कहने योग्य बात प्रमाणसे जैसी जानी गयी हो, उसे उसी प्रकार—बिना कुछ हेरफेर किये, नमक-मिर्च मिलाये कहो—*सत्यं वद* । धर्मका पालन करो अर्थात् अनुष्ठेय (करनेयोग्य) कर्मोंका पालन करो—*धर्मं चर* । स्वाध्यायमें प्रमाद न करो, अर्थात् शास्त्र-पुराणों (सच्छास्त्रों)के नियमित अध्ययनमें आलस्य मत करो, मत चूको—*स्वाध्यायान्मा प्रमदः* ।

विद्यादानसे उऋण होनेके लिये आचार्यके लिये उनके अभीष्ट धन लाकर और उन्हें (गुरुको) प्रदान कर उनसे अनुमति प्राप्त कर अनुरूप कन्यासे विवाहकर प्रजातन्तु (संतानपरम्परा)के क्रमको मत छिन्न करना; उसे बनाये रखना—*आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः* ।

सत्यसे प्रमाद नहीं करना चाहिये अर्थात् सदा सत्य-भाषण, सत्यव्यवहार और सत्यप्रतिपालन करना चाहिये; कभी भूलकर भी असत्य-भाषण नहीं करना चाहिये—*सत्यान्न प्रमदितव्यम्* ।

धर्मसे प्रमाद नहीं करना चाहिये अर्थात् कर्त्तव्यकर्मोंके करनेमें कभी आलस्य नहीं करना चाहिये—कर्त्तव्यकर्म किसी भी परिस्थितिमें, कैसे भी प्रसङ्गमें सदा अवश्य करना चाहिये—*धर्मान्न प्रमदितव्यम्* ।

कुशल (कर्म)से प्रमाद नहीं करना चाहिये अर्थात् आत्मरक्षाके लिये उपयोगी कार्योंसे प्रमाद (आलस्य, उपेक्षा) नहीं करना चाहिये, (आत्मरक्षासे ही सभी कर्म-धर्म और पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं ।) —*कुशलान्न प्रमदितव्यम्* ।

ऐश्वर्य प्रदान करनेवाले माङ्गलिक कर्मोंसे प्रमाद नहीं करना चाहिये, अर्थात् वैभव-प्राप्ति-करानेवाले मङ्गलयुक्त सत्कर्मोंसे प्रमाद नहीं करना चाहिये—*भूत्यै न प्रमदितव्यम्* । (तैत्तिरीयोपनिषत् १ । ११ । १)

[मनुने मङ्गलाचारका महत्त्व बतलाते हुए बतलाया है कि—

मङ्गलाचारयुक्तः स्यात् प्रयतात्मा जितेन्द्रियः । जपेच्च जुहुयाच्चैव नित्यमग्निमतन्द्रितः ॥ (मनु० ४ । १४५)

अर्थात्—'अभिप्रेत सिद्धिके लिये गोरोचन आदि धारण करना चाहिये । साथ ही गुरु-सेवा, बाह्यान्तर शौच भी जितेन्द्रिय होकर करते रहना चाहिये । निरालस (आलस्यसे रहित) होकर प्रतिदिन गायत्री आदि मन्त्रोंका जप और अग्निमें हवन करना चाहिये ।' इससे विनिपात (पतन) नहीं होता—

मङ्गलाचारयुक्तानां नित्यं च प्रयतात्मनाम् । जपतां जुह्वतां चैव विनिपातो न विद्यते ॥ (वही ४ । १४६)

'मङ्गलानुष्ठान और आचारसे सम्पन्न सदा प्रयतात्मा—पवित्र रहनेवाले तथा जप-होममें लगे हुए मनुष्योंकी अवनति नहीं होती, उनके दैव-मानुष-उपद्रव नहीं होते ।']

महर्षि पतञ्जलिका योग

(लेखक—श्रीयुत पी० डी० भटनागर, एम्० पी०, ए० एस्०)

योग ईश्वरकी प्राप्तिका एक साधन है। इसके समान दूसरा साधन नहीं है। प्राचीन महर्षियोंने पर्याप्त अनुसंधानके पश्चात् अपने अनुभवोंको—जिनके द्वारा मनुष्य भक्ति अथवा आत्मज्ञानद्वारा ईश्वरको प्राप्त कर अथवा आत्मसाक्षात्कार कर मनुष्य-जीवनके परम लक्ष्यको पहुँच सके, महान् पवित्र ग्रन्थों—जैसे उपनिषद्, योगदर्शन, योगवासिष्ठआदिमें लेखबद्ध किया है। इनमें 'योगदर्शन' महर्षि पतञ्जलिकी रचना है। योगदर्शनके अध्ययनसे तथा उसमें वर्णित साधनाके अभ्याससे साधक ईश्वरप्राप्ति अथवा चित्तसे पृथक् आत्माका साक्षात्कारकर अपना जीवन कृतकृत्य कर सकता है। वर्तमान प्रबन्धमें योगके चार महत्त्वपूर्ण विन्दुओंपर प्रकाश डाला गया है। प्रथम—योग क्या है, द्वितीय—सच्चा सुख प्राप्त करनेके लिये योगकी परमावश्यकता, तृतीय—वर्तमान दैनिक जीवनमें योगकी उपयोगिता एवं चतुर्थ—यह कि योगका किस प्रकार अभ्यास किया जाय।

प्रथम विन्दु है—योग क्या है—केवल कुछ योग-आसन—जैसे शीर्षासन, सर्वाङ्गासन इत्यादि करना अथवा कुछ हठयोगकी क्रियाएँ नेति, धोति, त्राटक इत्यादि करना ही योग नहीं है; परंतु वास्तविक योग मनको जीतना है। महर्षि पतञ्जलिने योगदर्शन (१ । २)में कहा है—

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।'

चित्तवृत्तियोंका निरोध करना योग है। चित्तवृत्तियोंका निरोध करनेपर चित्तकी क्या अवस्था होती है, उसका योगदर्शनमें इस प्रकार वर्णन है—

'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।' (१ । ३)

'चित्तवृत्तियोंके निरोध करनेपर द्रष्टा जो केवल साक्षी—देखनेवाला मात्र है, अपने वास्तविक स्वरूपमें स्थित हो जाता है।' यहाँ एक अत्यन्त महत्त्वकी बात कही गयी है, जिसे साधकको भली प्रकार समझ लेना चाहिये। वह है 'चित्त' एवं 'द्रष्टा'का स्वभाव अथवा धर्म अथवा उसके कार्य। चित्तका स्वभाव है कि उसमें सत्त्व, रज और तम—तीनों गुणोंके कारण अथवा पूर्वजन्मोंके कर्मानुसार एवं वर्तमान परिस्थितियोंके अनुसार, भिन्न-भिन्न प्रकारके विचार आया करते हैं, जो वृत्तियाँ कहलाते हैं। इसके विपरीत द्रष्टाका स्वभाव है कि वह केवल देखनेकी शक्तिमात्र (निर्विकार, शुद्ध स्वरूप, साक्षी और चित्तकी वृत्तियोंके अनुसार देखनेवाला) है **'द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः।'** (योगद० २ । २०) द्रष्टामें मणिके गुणकी तरह जो कुछ विचार चित्तमें आते हैं, उनका रूप उसमें दिखायी देता है। जब चित्तमें विचार आने बंद हो जाते हैं, तब द्रष्टा अपने वास्तविक रूपमें, जो साक्षी, अपरिणामी और सच्चिदानन्दरूप है, आ जाता है। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्यका अन्तिम ध्येय चित्तकी वृत्तियोंका निरोधकर अपने वास्तविक रूपमें आना ही योग है। इसीको आत्मसाक्षात्कार अथवा ईश्वरप्राप्ति भी कहते हैं।

दूसरा विन्दु है—सच्चा सुख प्राप्त करनेके लिये योगकी परमावश्यकता। संसारमें सभी मनुष्य स्थायी सुख चाहते हैं; क्योंकि उनका वास्तविक स्वरूप ही सच्चिदानन्द है। जो ईश्वरको मानते हैं, वे उनकी भक्ति स्थायी सुखके लिये करते हैं। कुछ मनुष्य ऐसा कहते हैं कि वे ईश्वरको नहीं मानते तथा वे संसारमें ही सुखका अनुभव करते हैं, क्योंकि उनके पास धन, वैभव, संतान इत्यादि सब उपलब्ध हैं। जो ईश्वरको नहीं मानते, वे अपने स्वयंके अस्तित्वको अमान्य नहीं कर सकते, कारण कि वे स्वयं तो हैं। इसलिये वे भी चिर सुखी होना चाहेंगे। यह तथ्य निश्चित है कि सांसारिक धन एवं वैभवसे मनुष्यको सच्चा सुख अथवा मानसिक शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। संसार-

के विषयजन्य सुख, दुःखमिश्रित, दुःखका कारण, क्षणभङ्गुर, मिथ्या एवं परिवर्तनशील हैं। धन-वैभव किसीके पास न रहे, न सदा रहेंगे। महर्षि पतञ्जलिने योगदर्शन (२।१५)में लिखा है 'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।' विषयसुखके भोगकालमें भी परिणाम एवं ताप-दुःख है। विषयसुखके भोगमें इन्द्रियोंकी तृप्ति नहीं होती। अन्तमें इन्द्रियाँ दुर्बल हो जाती हैं तथा विषयोंकी तृष्णा सताती है। यही परिणाम-दुःख है। विषयसुखकी प्राप्तिमें, उसके साधनमें राग-क्लेश उत्पन्न होता है और उसमें रुकावटें आनेपर द्वेष-क्लेश होता है तथा सुख-नाश होनेका भय सदा तपाता है, जो ताप-दुःख कहलाता है। इसी प्रकार दुःख एवं सुखके संस्कार चित्तपर पड़ा करते हैं और सत्त्व, रज एवं तम—तीनों गुणोंमें परस्पर विरोध रहता है। कभी सत्त्व अधिक, कभी रज अधिक तथा कभी तम अधिक रहता है, जो मनुष्यको घड़ीके यन्त्रकी तरह सुख-दुःखकी अवस्थामें ऊपर-नीचे घुमाया करते हैं। यही कारण है कि ज्ञानीके लिये संसारके सभी विषयजन्य सुख दुःखरूप हैं, केवल आत्मदर्शन ही सच्चा सुख है। शक्ति या आनन्द क्रमशः भोजन और धनसे प्राप्त नहीं होता; परंतु निज स्वरूपके ज्ञानसे अपार शक्ति एवं आनन्द प्राप्त होता है; क्योंकि वह सच्चिदानन्द है। इसीलिये महात्मा गौतम बुद्ध राजपाटका त्याग कर सच्चा सुख प्राप्त करनेके लिये आत्मानुभवके लिये प्रयत्नशील हुए; क्योंकि आत्माका स्वरूप सच्चिदानन्द, चैतन्य, अमल एवं सहजमें सुखकी राशि है।

तृतीय विन्दु है—वर्तमान दैनिक जीवनमें योगकी उपयोगिता। आज मनुष्य बहुत ही स्वार्थपरायण हो गया है; और वह दैहिक सुखको ही प्रधान समझता है, यह अज्ञानता है। मनुष्यको जानना चाहिये कि आत्मा शरीर एवं मनसे पृथक् है। केवल शरीरको सुखी बनानेसे आत्मा सुखी नहीं होता। मनुष्य शरीरको सुखी बनानेमें अन्यायसे धन पैदा करता है, दूसरोंके अधिकारोंका हनन करता है और वस्तुओंका अनावश्यक संचय करता है। जब मनुष्यको योगद्वारा ज्ञान होता है कि वास्तवमें सच्चा सुख विषयजन्य शरीर-सुखमें नहीं है, परंतु आत्मसाक्षात्कार करनेमें सच्चा सुख है, तब वह अधर्मसे धर्मकी ओर बढ़ता है। जिस प्रकार वाल्मीकि डाकूसे ऋषि-महर्षि हो गये। योगके आठ अङ्ग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधिके अनुष्ठानसे आन्तरिक तथा बाह्य जीवन शुद्ध होता है। केवल यम अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहके धारणसे मनुष्यका जीवन सात्त्विक हो जाता है। वह कभी किसीकी हिंसा नहीं करेगा, सदा सत्य व्यवहार करेगा, किसीके अधिकारका हनन नहीं करेगा और किसी वस्तुका अनावश्यक संचय नहीं करेगा। इस प्रकार यम पालन करनेवालेका जीवन तो सात्त्विक होगा ही। उसके समागमसे अन्य मनुष्य भी उसका अनुकरण करेंगे तथा वर्तमानमें एक-दूसरेका जो हनन किया जा रहा है, वह समाप्त होकर जीवन सभीके लिये उपयोगी होगा। कर्तव्यपरायणता एवं आत्मीयता योगका ही फल है। योगधारणसे ही रामराज्य, जहाँ सभी सुखी थे, प्राप्त हो सकेगा। इसलिये वर्तमान दैनिक जीवनमें योगकी महान् उपयोगिता है।

चतुर्थ विन्दु—जो बहुत महत्त्वका है, वह है कि योगका अभ्यास किस प्रकार किया जाय? अभ्यासके पूर्व साधकको भली प्रकार समझना चाहिये कि चित्त चञ्चल एवं जड है और आत्मा स्थिर एवं चेतन है। तत्पश्चात् यदि साधक ईश्वरमें विश्वास करता है तो भक्तियोगका मार्ग अपनाना चाहिये, अथवा ज्ञानयोगका मार्ग अपनाना चाहिये। जैसा पहले बताया गया है कि चित्तवृत्तियोंका निरोध योग है, जिससे द्रष्टा अथवा आत्मा अपने वास्तविक रूपमें

आ जाता है। चित्तवृत्तियोंके निरोधके लिये योगदर्शनमें बताया है कि अभ्यास और वैराग्यसे चित्तवृत्तियोंका निरोध होता है—'**अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।**' (१ । १२) इनमेंसे चित्तको किसी एक केन्द्र-पर ठहरानेको अभ्यास कहते हैं तथा देखनेमें आनेवाले सांसारिक विषय-सुख तथा सुननेमें आनेवाले स्वर्गादिके सुखमें तृष्णारहित होना वैराग्य है—'**तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ।**' '**दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्** ॥ (१ । १३, १५) चित्तको विचाररहित करनेके लिये अथवा मनपर विजय प्राप्त करनेके लिये साधकको चित्त एकाग्र करने-हेतु एक केन्द्र नियत करना होगा। भक्तियोगवाले अपनी एकाग्रताका केन्द्र ईश्वर अथवा जो उनका इष्ट हो नियत कर सकते हैं तथा ज्ञानयोगवाले अपनी आत्माको केन्द्र नियत कर सकते हैं। साधना करनेके लिये साधकको किसी रुचिकर आसनपर बैठकर और यदि वह किसी कारण बैठ नहीं सकता, तब वह लेटकर भी अभ्यास कर सकता है। इसके लिये घरसे बाहर जानेकी आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक अवस्थामें एकाग्रता करने-का केन्द्र दोनों आँखोंकी भौंहोंके बीच ललाटपर जिसे 'आज्ञाचक्र' कहते हैं, उत्तम है। भक्तियोगवाला साधक ईश्वरके बोधक प्रणव (ॐकार) अथवा इष्टके चित्रको सामने रखकर भी उसको एकाग्रताका केन्द्र बनाकर चित्तको एकाग्र कर सकता है। आँख बंद करनेसे चित्त शीघ्र एकाग्र होता है। ईश्वर या इष्टका मानसिक चित्र एकाग्रताके केन्द्र यानी आज्ञाचक्रपर स्थापित करना चाहिये। साधना करते समय जब-जब चित्तमें कोई विचार उत्पन्न हो, उसको अनित्य समझकर, जिस प्रकार समुद्रमें ज्वारभाटे उत्पन्न होते हैं, नष्ट होते हैं, उसी प्रकार ये विचार नष्ट हो जायँगे, साधकको उनसे उपेक्षाकी भावना रखनी चाहिये। इस प्रकारके अभ्याससे धीरे-धीरे विचारोंका आना बंद हो जायगा। साधक ईश्वर अथवा इष्टके प्रति भावना करे कि 'तू सर्वशक्तिमान् है, तू ही माता एवं पिता है एवं तू ही सब चेष्टाओंका आधारभूत है। संसार अनित्य, स्वप्नवत् है। तू ही तू है; यह भावना रहे।' इस प्रकारके अभ्याससे साधकको संसारमें नीरसता तथा ईश्वरमें रसिकताका अनुभव होगा एवं सच्चा सुख प्राप्त होगा। जो साधक ज्ञानयोगको अपनाते हैं, उनको भी एकाग्रताका केन्द्र ललाटपर दोनों आँखोंके भौंके बीच आज्ञाचक्रपर नियत करना चाहिये, जिसे एक बिन्दुका रूप दिया जा सकता है और स्वयंको अर्थात् 'मैं'को चित्तसे पृथक् सच्चिदानन्दका अनुभव करना चाहिये; क्योंकि आत्मा सच्चिदानन्द है। चित्तमें परिस्थितियोंके कारण जो विचार आवे, उनको आत्मासे पृथक् समझकर कि यह चित्तका स्वभाव है, आत्माका स्वभाव सच्चिदानन्द साक्षी हैं, विचारोंके प्रति उदासीनताकी भावना करे। 'मैं ही हूँ', 'मैं ही हूँ' यह विचार करे। इस अभ्याससे धीरे-धीरे सांसारिक विचारोंका आना बंद हो जायगा और द्रष्टा अथवा आत्मा अपने वास्तविक स्वरूपमें जो साक्षी एवं सच्चिदा-नन्द है—आ जायगा। यही आत्माकी उपासना है। साधक स्वरूपास्थितिमें जितने अधिक समयके लिये ठहर सके, उतना ही लाभप्रद है। उपर्युक्त अभ्यासको साधक प्रतिदिन प्रातः और सायं पाँच मिनटसे धीरे-धीरे बढ़ाकर घंटोंतक करे तो मानसिक शान्ति और शारीरिक बलमें वृद्धि होगी। इसी स्वरूपस्थितिके अभ्यासको वास्तविक सत्सङ्ग कहते हैं, जिसका फल कर्तव्यपरायणता, आत्मीयता, असङ्गता और संसारके विषयोंसे उपरामता है। साधना उत्तरोत्तर बढ़ानेसे आत्मसाक्षात्कार अथवा ईश्वर—इष्टकी प्राप्ति होगी, जो प्रत्येक मनुष्यका लक्ष्य है।

हमारा मोह

(नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

पुराने इतिहासों, पुराणों और अन्य ग्रन्थोंसे पता लगता है कि किसी जमानेमें मनुष्य प्राप्त भोग-सुखोंको छोड़कर परमात्मसुखके लिये लालायित रहता था। उसने अपने जीवनका उद्देश्य ही मान रक्खा था—आत्माको जानना, परमात्माको प्राप्त करना। गर्भाधानकालसे इसीके लिये तैयारी होती थी और जीवनभर इसीकी शिक्षा दी जाती थी। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—ये चार आश्रम और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—ये चार वर्ण मनुष्यके इस अन्तिम ध्येयकी प्राप्तिके लिये ही बनाये गये थे और इनकी सुव्यवस्थापूर्ण पद्धति मनुष्यको क्रमशः परमात्माकी ओर ले जाती थी। शिक्षाका उद्देश्य ही था—मनुष्यको पूर्ण सुखकी प्राप्तिके साधन बतला देना।

× × × ×

समयने पलटा खाया, मनुष्यकी दृष्टि नीचे उतरी, ध्येय पदार्थ नीची श्रेणीका हो गया, अब तो यहाँतक हुआ कि भोग-सुख ही जीवनका लक्ष्य समझा जाने लगा। अपना सुख हो या देशका सुख—जो छोटे दायरेमें है, वह अपने सुखके लिये यत्नवान् है, जो बड़े दायरेमें है, वह देशके सुखके लिये चेष्टा कर रहा है—इसके अंदर भी निज सुखकी इच्छा तो छिपी ही है। फिर उस सुखका स्वरूप क्या है—खूब धन हो, सम्मान हो, सत्ता हो, अधिकार हो, प्रभुत्व हो। इनकी प्राप्तिके लिये चाहे जिस साधनका प्रयोग करना पड़े, चाहे जिस उपायसे काम लिया जाय, झूठ, कपट, छल, द्रोह, हिंसा, किसीके लिये रुकावट नहीं; काम होना चाहिये, सफलता मिलनी चाहिये। आश्चर्य तो इसी बातका है कि मरणधर्मा मनुष्य दूसरेको लूटकर, मारकर स्वयं सुख-शान्तिसे जीना चाहता है।

× × × ×

परंतु क्या किया जाय। विद्यालय, विश्वविद्यालय, आश्रम, मठ, मन्दिर—सभी जगह यही शिक्षा मिल रही है—बस, धनवान् बनो, अधिकार प्राप्त करो, सत्ता-लाभ करो, इस लोकका सुख ही सुख है, यहाँका अधिकार ही जीवनका लक्ष्य है। यह न हुआ तो जीवन वृथा गया। परिणाम प्रत्यक्ष है। आज चारों ओर अधिकारकी लड़ाई प्रारम्भ हो गयी है। लोगोंके जीवन दुःखमय बन गये हैं। कोई अधिकार-प्राप्तिके लिये व्याकुल है तो कोई अधिकार-रक्षाके लिये। क्या कहा जाय? हमारा पूरा जीवन ही भौतिकवादी हो गया है—बाह्य वस्तुओंके लिये, इन्द्रिय-भोगोंके लिये वह बिक गया है। मांसके टुकड़ोंके लिये चील-कौओंकी-सी लड़ाई होने लग गयी है।

× × × ×

किसी जमानेमें परमात्माकी प्राप्तिके लिये तप होते थे, आज भोगोंकी प्राप्तिके लिये होते हैं। कभी भगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पण होता था, आज भोगोंकी प्रतिमा पूजी जाती है। कभी देहात्मबोध छोड़कर ब्रह्मात्मबोध किया जाता था, अब ब्रह्मात्मबोधकी अनावश्यकता समझी जाकर उस मार्गके पथिकोंको भी देहात्मबोधकी शिक्षा दी जाती है। बड़े-बड़े मनीषी, तपस्वी, संयमी पुरुष भी आज भोगोंकी प्राप्ति करने-करानेके लिये जीवनकी और धर्मकी बाजी लगाये बैठे हैं और इसीको धर्म समझा जा रहा है। इस भोगपरायणता—इन्द्रियसुखपरताका परिणाम क्या होता है? मनुष्योंमें राक्षसी भावोंका उदय, द्वेष-हिंसा-प्रतिहिंसाका प्राबल्य, घोर अशान्ति और सुखके नामपर दुःखपूर्ण जीवन-यापन।

× × × ×

इसका प्रत्यक्ष प्रमाण भोगसुख और भौतिक सत्तासामर्थ्यसे सम्पन्न समुन्नत कहानेवाले देशोंकी भीतरी

दशा है। परंतु इस दशाको भी देखना होगा ईश्वराभिमुखी ज्ञानसम्पन्न ऋषि-नेत्रोंसे; हमने ये नेत्र खो दिये, कम-से-कम हमारे इन नेत्रोंपर जाले तो छा ही गये हैं। इसीसे हम विपरीतदर्शी हो रहे हैं। वहाँकी सभी बातें हमें अच्छी लगती हैं, चाहे वह बुरी-से-बुरी हों, ऐसा जादू छाया है कि उसने हृदयको ही 'पराया' बना दिया। इसीके परिणाम-स्वरूप आज हम वहाँके अनाचारमें सदाचार, पापमें पुण्य, स्वार्थान्धतामें देशभक्ति, अवनतिमें उन्नति, अधर्ममें धर्म और पतनमें उत्थानका विपरीत दृश्य देख रहे हैं, और सब ओर उसीके प्रवर्तनकी अन्धचेष्टामें तत्पर हैं।

* * * *

जहाँ सुख है ही नहीं, वहाँ सुखको खोजना वैसा ही है—जैसा तप्त मरुभूमिमें मरीचिकाको जल समझकर भटकना। भगवान् श्रीकृष्णने तो इस जगत्को 'अनित्य' और 'असुख' अथवा 'दुःखालय' और 'अशाश्वत' बतलाया है और इसके प्रत्येक पदार्थमें जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधिरूप दुःख-दोष देखकर इससे वैराग्य करनेकी आज्ञा दी है। और, वैसा बनकर ही जगन्नाटकके सूत्रधार भगवान्के आज्ञानुसार अपने-अपने स्वाँगके अनुकूल अभिनय करनेको निष्काम कर्म बतलाया है। आज हम भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञा मानकर लड़ने-मरनेको तो प्रस्तुत हैं, परंतु भोगेच्छा छोड़कर वैराग्य ग्रहण करनेके लिये जरा भी तैयार नहीं। फलस्वरूप निष्काम कर्मयोगके स्थानपर विकर्म—पापकर्म हो रहे हैं; भोगसुखेच्छासे प्रेरित होकर राग-द्वेषवश किये जानेवाले असत्य, कपट और हिंसायुक्त कर्म पाप न होंगे तो और क्या होंगे? पापका फल दुःख होता ही है, उसीका भोग भी हम खूब भोग रहे हैं। आश्चर्य और चिन्त्य तो यह है कि गीताकी दुहाई देकर आज मनमाने आचरण किये जा रहे हैं।

आज जो कुछ हो रहा है, इसके अधिकांशमें न ज्ञान है, न निष्काम कर्म है और न भक्ति है। ज्ञानमें प्रधान बाधा है देहाभिमानकी, सो उसको खूब बढ़ाया जा रहा है। निष्काम कर्मयोगमें प्रधान बाधक है स्वार्थ-बुद्धि, जिसकी वृद्धिके लिये प्रत्येक सम्प्रदाय और दल जोरोंके साथ संगठित हो रहे हैं, और भक्तिमें प्रधान प्रतिबन्धक है—शरणागतिमें कमी—भगवान्पर पूर्ण निर्भर न होना। सो यह भी प्रत्यक्ष ही है। सच्चा ज्ञानी, सच्चा निष्कामकर्मी और सच्चा भक्त कभी छल, कपट, दम्भ, असत्य, अन्याय और हिंसा आदिका अवलम्बन नहीं कर सकता; क्योंकि ज्ञानके साधनमें देहात्मबुद्धिका—शरीरमें 'मैं' बुद्धिका त्याग करना पड़ता है, उसके लिये आत्मा शरीरसे उसी प्रकार अलग है, जिस प्रकार दूसरे शरीरोंसे हमारा शरीर। यह स्थिति प्राप्त होनेपर अर्थात् देहात्मबुद्धिके छूट जानेपर पापकर्म नहीं हो सकते। इसी प्रकार स्वार्थबुद्धिके परित्याग हो जानेपर, ईश्वरार्थ किये जानेवाले निष्काम कर्म भी पापयुक्त नहीं हो सकते। और भगवद्भक्तिमें तो मनुष्य भगवान्के शरण ही हो जाता है, उस अवस्थामें उसके दूषित भावोंका त्याग स्वाभाविक ही होता है। जहाँ दुष्कर्म होते हैं—सफलताके लिये शास्त्रविरुद्ध कर्मोंका, पापोंका आश्रय लिया जाता है, वहाँ ज्ञान, निष्कामकर्म और भक्तिका स्वप्न देखना मोहमात्र है।

* * * *

इस मोहका भङ्ग होना आवश्यक है, परंतु हो कैसे? अज्ञानजनित भोगलोलुपताके अन्धकारने हमारे ज्ञानको ढक लिया है और चारों ओरसे इस अन्धकारको और भी घन करनेका अथक प्रयत्न हो रहा है। इस अन्धकारकी घनताको ही ज्ञानका प्रकाश कहा जाता है। मनुष्यकी बुद्धि आज उल्लू और चमगादड़की दृष्टि-जैसी हो गयी है। जैसे इन पक्षियोंको दिनमें अँधेरा और

रातको प्रकाश दीखता है, वैसे ही हमें भी आज अन्धकारमें ही प्रकाशका भ्रम हो रहा है। इसीसे हम 'कामोपभोगपरायण' होकर सैकड़ों आशाकी फाँसियोंमें बँधे हुए काम-क्रोधादि साधनोंसे 'कामभोगार्थ' 'अन्यायपूर्वक अर्थप्राप्ति'के उपायोंमें लग रहे हैं। मोहने हमें घेर लिया है, अभिमानने हमें अन्धा कर दिया है। लोभने हमारी वृत्तिको बिगाड़ दिया है। मदने हमें उन्मत्त बना दिया है। इसीसे हम आज अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोधका आश्रय लेकर सर्वभूतस्थित भगवान्‌के साथ द्वेष करने लगे हैं। इन आसुरी भावोंका परिणाम नरककी यन्त्रणाएँ और अधम गतिके सिवा और क्या हो सकता है?

* * * *

उपाय क्या है? उपाय है—भगवदाराधन! जिन लोगोंको भगवान्‌में कुछ भी विश्वास है, वे सबकी ऐसी बुद्धि होनेके लिये भगवान्‌से सरल श्रद्धायुक्त अकृत्रिम प्रार्थना करें, उठते हुए भगवद्‌विश्वासको अपने शुभ आचरण और सच्ची भक्तिके द्वारा फिर जमावें। भगवत्-श्रद्धाके सूखते हुए वृक्षकी जड़को सच्ची निर्भरताकी अश्रुजल-धारासे सींचे। आप्तवचनोंपर श्रद्धा करें। ऋषि-मुनियोंको भ्रान्त मानना छोड़ दें। जीवनको तप-संयमसे पूर्ण बनाकर भगवत्कृपाका आश्रय ग्रहण करें, अटल विश्वास तथा परम श्रद्धाके साथ भगवान्‌के श्रीचरणोंकी सेवा करें और उनके पवित्र नामका जप करें।

* * * *

मनुष्यको सावधान होकर यह सोचना चाहिये कि यहाँ सभी भोग-सुख अनित्य हैं, बिजलीकी भाँति चञ्चल हैं। शरीर कच्चे घड़ेके समान अचानक जरा-सी ठेस लगते ही नष्ट हो जानेवाला है। इसलिये भोगोंसे मन हटाकर भगवान्‌में प्रेम करें। भगवान्‌के लिये ही जगत्‌के सारे कार्य करें। जगत्‌के लिये भगवान्‌को कभी न भुलाया जाय। भगवान्‌के लिये जगत्‌को छोड़ना पड़े तो आपत्ति नहीं। परंतु जगत्‌के लिये भगवान् कभी न छूटें, यदि मनुष्य इस प्रकार निश्चय कर ले तो फिर जगत्‌के छोड़नेकी भी जरूरत नहीं पड़ती, सारा जगत् भगवन्मय ही तो है!

'हरिरेव जगत्, जगदेव हरिः।'

वैराग्य-सुख

क्या करना है, संतति-संपति, मिथ्या सब जग-माया है।
शाल-दुशाले, हीरा-मोती में मन क्यों भरमाया है॥
माता-पिता पती बंधू, सब गोरखधंध बनाया है।
ललितकिसोरी आनँदघन हरि, हिरदै-कमल बसाया है॥
छोड़ दिया सब माल-खजाना, हीरा-मोति लुटाया है।
फेंक-फाँककर शाल-दुशाले, जगसे चित्त उठाया है॥
ललितकिसोरी, छोड़ि कानि कुल, मन-माशूक लुभाया है।
धीरज-धरम सभी छोड़ा तब, मजा फकीरी पाया है॥

(श्रीललितकिशोरीजी)

सगुणोपासना भगवत्-प्राप्तिका साधन

(लेखिका—श्रीमती मञ्जुरानी गुटगुटिया, 'सरस्वती')

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ५ । २२)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग निःसंदेह दुःखके हेतु हैं तथा वे आदि-अन्तवाले भी हैं। इसलिये हे अर्जुन ! बुद्धिमान् तथा विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता ।

ऐसे विवेकी पुरुष अपने मनको जीतकर भगवद्-अनुरक्त हो ज्ञानके द्वारा ईश्वर-प्राप्तिका उपाय करते हैं। 'अनित्यम्, असुखम्' आदिको समझते हुए संसारसे विरक्त होकर प्रयत्नोंद्वारा अपनेको शुद्धकर भगवत्-कृपा-प्राप्तिके अधिकारी होते हैं। ऐसे योगी परमात्माको अपने अन्तर-में ही देखते हैं—

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥
(श्रीमद्भगवद्गीता १५ । ११)

हृदयमें परमात्माका अनुभव हो जानेपर कण-कणमें वही दीखता है—'वासुदेवः सर्वमिति'। यही वास्तविक अनुभव है। परमात्मा सम्पूर्ण दिव्यगुणोंसे युक्त होते हुए भी सम्पूर्ण गुणोंसे परे हैं, निर्लिप्त हैं, इसलिये निर्गुण कहा गया है। बुद्धिप्रधान व्यक्ति ज्ञानमार्गका आश्रय लेकर परमात्माको निर्गुण मानता है। परंतु हृदय-प्रधान भावुक मानव परमात्माको सगुण मानता है। वह निराधार नाम, रूप, गुणके अभावमें प्रभुसे तदात्म कैसे हो सकता है।

रूप रेख गुन जात जुगुति बिनु निरालम्ब कित धावे।

प्रेमाभक्तिके द्वारा जीव भगवान्से जुड़ जाता है। भक्तिका अर्थ भगवान्का योगयुक्त भजन बताया गया है। सम्पूर्ण जगत्में व्याप्त परमात्माकी सत्ताका ज्ञान तथा आनन्द हमारे सम्बन्धको जगत्से विभक्तकर भगवान्के साथ सम्बन्ध कराते हैं—यही भक्ति है। भक्ति शब्द व्याकरणके अनुसार भज् धातुसे बना है। भज् सेवायां; भजनं—भक्तिः। प्रेमपूर्वक भजन करना ही भक्ति है। भगवान्के अतिरिक्त समस्त सांसारिक बन्धन भक्तके लिये गौण हो जाते हैं। संसारमें यदि भक्तका किसी औरसे कहीं भी सम्बन्ध है तो वह केवल भगवान्के नाते ही है। भगवान्के साथ सेवाका, प्रेमका एवं विश्वासका सम्बन्ध जोड़ लेना ही 'भक्तियोग' है। योग अर्थात् जुड़े रहना, अनवरत प्रयत्नशील रहना। चेतना अथवा अचेतनावस्था प्रत्येक समय स्थायीरूपसे भक्ति-भावनाका बने रहना शुद्ध भक्ति है। जैसे परिवारके सदस्योंके प्रति एक स्थायी प्रेम सदा बना रहता है—सोते-जागते, उठते-बैठते। पुत्र पास हो या दूर, उसका प्रेम तो उतना ही रहता है—वह प्रेम वियोगसे नष्ट नहीं होता। यह रागात्मक संस्कार है। भक्ति भी ऐसी ही होनी चाहिये। ऐसी भक्ति रखने-वाले भक्तके पीछे-पीछे स्वयं भगवान् चक्कर लगाते हैं। वे स्वयं कहते हैं—

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥
(श्रीमद्भा० ११ । १४ । १६)

सच्चे हृदयसे शरणागत होकर प्रभुका स्मरण करनेवाले भक्तके भाग्यकी गोस्वामीजीने भी सराहना की है—

सुखी मीन जे नीर अगाधा। जिमि हरि सरन न एकउ बाधा॥
(मानस ४ । १६ । १)

निर्बल साधकके लिये शरणागत होकर प्रभुका स्मरण करना ही एकमात्र अवलम्बन रहता है। जिस प्रकार

मछली जलके लिये तड़पती है, जैसे पुत्रशोकसे विह्वल होकर माता-पिता आकुल-व्याकुल होते हैं, उसी प्रकार सच्चा साधक प्रभुके लिये मन-ही-मन तड़पता रहता है—उसके लिये सुख-दुःख समान हो जाते हैं। वह सब कुछ कृष्णार्पणकर केवल भक्ति माँगता है। उसे विश्वास रहता है कि प्रभु सर्वान्तर्यामी है, वे जो कुछ करेंगे उसके हितमें ही करेंगे। वह तो सुख-सुविधाओं-के अभावमें ही रहना चाहता है। सुखमें प्रेमको भूल भी सकता है। प्रभुका विरह, वियोग ही उसे चाहिये। जैसे पतिव्रता स्त्री अपने परदेश गये प्रियतमके लिये हृदयमें प्रीति संजोये रखती है—जैसे भूखा बछड़ा गायके लिये रँभाता है, जैसे पक्षियोंके बच्चे अपनी माके लिये आतुर आकुल रहते हैं, जैसे जलमें डूबता व्यक्ति उबरनेकी कोशिश करता है, इसी प्रकार भक्त भी प्रभुके लिये तड़पता रहता है।

भक्तोंको सदैव कष्टमें ही प्रभुके दर्शन हुए हैं। अतः सच्चा भक्त भगवान्से दुःख-ही-दुःख माँगता है। कुन्तीने भगवान् श्रीकृष्णसे वरदानमें दुःख ही माँगा था। संकट भक्तका परीक्षा-काल होता है। नृसिंह भगवान्के दर्शन प्रह्लादको दुःखमें ही हुए थे। ध्रुव यदि अपनी सौतेली मासे अपमानित न होते तो उन्हें प्रभु-प्राप्ति कैसे होती? अहल्या पाषाण-मूर्ति होकर ही प्रभु-स्पर्शकी अधिकारिणी बन सकी। प्रभु अपने प्रिय भक्तोंके संकट देख नहीं सकते, उन्हें भक्तकी आर्त पुकार सुन नंगे पैर दौड़कर आना ही पड़ता है।

रामचरितमानसमें स्वयं भगवान् कहते हैं—

सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥
(३ । ४२ १½ । २½)

यही बात श्रीकृष्ण भगवान्ने श्रीगीताजीमें कही है—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
(१८ । ६२)

इस तरहके सगुणोपासक भक्तोंकी भगवान् नन्हे शिशुकी भाँति रक्षा करते रहते हैं, जबकि निर्गुणोपासना-में ज्ञानमार्गकी मान्यतावाले भक्तोंको प्रभु तरुण बालकके रूपमें देखते हैं। अतः ज्ञान पाकर भी पण्डितजन भक्ति नहीं छोड़ते—

यह बिचारि पंडित मोहि भजहीं। पाएहुँ ग्यान भगति नहिं तजहीं॥
(मानस ३ । ४२ । ५)

भक्तिमार्गमें सबसे सरल सुगम साधन प्रभुका नाम-स्मरण बताया गया है। पूर्णरूपेण प्रभुके अधीन हो उनके नामस्मरणसे जीवको शाश्वत सुखकी प्राप्ति होती है। कलियुगमें भवसागर पार करनेका एकमात्र सुगम साधन यही है। गोस्वामीजीने रामचरितमानसमें प्रभुके नाम-स्मरणकी महिमाका स्थान-स्थानपर सरल वर्णन किया है—

कलिजुग जोग न जग्य न ग्याना। एक अधार राम गुन गाना॥
(उत्तरकाण्ड)

भगवन्नाम जपने एवं भगवत्-नाम-स्मरणसे प्राणीमें अलौकिक दिव्य प्रकाशका उदय होता है, वह अपनेमें सच्चिदानन्दका अनुभवकर इस मृत्युलोकको पार करता है, ऐसे मनुष्यका पुनर्जन्म नहीं होता। भागवत-माहात्म्यके संदर्भमें इसी प्रकरणकी पुष्टि की गयी है—

यत्फलं नास्ति तपसा न योगे न समाधिना।
तत्फलं लभते सम्यक् कलौ श्रीहरिकीर्तनात्॥
(पद्मपुराण)

साधक जो फल तपस्या, योगाभ्यास और समाधि-द्वारा भी प्राप्त नहीं कर पाता, वह कलियुगमें केवल हरि-नाम-कीर्तनके अत्यन्त सरल उपायसे तत्काल प्राप्त कर लेता है।

भगवान् विष्णुका स्वरूप

(लेखक—पं० श्रीनाथूलालजी पाठक)

व्याप्ति अर्थवाली 'विष्' धातुसे 'नुक्' प्रत्यय करके विष्णु शब्द बनता है। विष्णु सर्वत्र व्यापनशील हैं। सृष्टिके पालनकर्ता होनेके कारण त्रिदेवोंमें विष्णुका प्रमुख स्थान है। यजुर्वेद ५। २१में मण्डप-वंश आदिकी स्तुतिमें कहा गया है—

'विष्णो रराटमसि विष्णोः श्नप्त्रे स्थो विष्णोः स्यूरसि विष्णोर्ध्रुवोऽसि'।

'हे यज्ञमण्डपके प्राग्वंश! तुम विष्णुके उपलक्ष्य हविर्धानमण्डपके ललाट-स्थानीय हो।' 'अथर्ववेद'में विष्णुको ध्रुववाली दिशा अर्थात् उत्तरदिशाका अधिपति माना गया है। प्रजाको उत्पन्न करनेवाले इन्हीं त्रिपादपुरुष नारायण-का वर्णन ऋग्वेदके प्रसिद्ध 'पुरुषसूक्त'में भी मिलता है। अनन्त शिर, चक्षु तथा पैरोंवाले आदिपुरुष समस्त विश्वको सिमटकर स्वल्पस्थानमें ही स्थित हैं।

यास्क आदि निरुक्तिकारोंमें 'और्णनाभ'ने विष्णुके त्रिविक्रमका अर्थ यह लगाया है कि विष्णु सूर्यके प्रतीक हैं तथा उनके तीन पग प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल हैं। शाकपूणिने पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाशको त्रिपाद माना है। सृष्टिके तीनों खण्ड त्रिविक्रम विष्णुके तीन पग हैं। सूर्यकी नाना क्रियाओंके भेदसे ऋग्वेदमें अनेक देवताओंके रूपमें कल्पना की गयी है। अथर्ववेद १।३।१।१में तो स्पष्टरूपसे सूर्यको ही विष्णु कहा गया है। वेद तथा पुराणोंमें विष्णु नामसे सूर्यकी ही पूजा हुई है। ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें 'यज्ञ'रूप विष्णुका विस्तृत इतिहास उपलब्ध होता है। ऐतरेय ब्राह्मणमें तो यज्ञकी अग्निको ही विष्णु कहा गया है—**'यज्ञो वै विष्णुः।'**

विष्णुके तीन पदोंकी कथा पुराणप्रसिद्ध है। असुरराज बलिने इन्द्रसे स्वर्गका राज्य छीननेका प्रयत्न किया था। बलिकी दानवीरता प्रसिद्ध थी। विष्णु उनके यहाँ बौने ब्राह्मणके रूपमें आये और उनसे तीन पग भूमि माँगी। बलिने देना स्वीकार किया। विष्णुने दो पैरोंमें भूर्लोक और द्युलोकको नाप लिया। तीसरे पैरके नापके लिये बलिद्वारा अपना शरीर प्रस्तुत किया गया। फलतः वे पातालमें जा बसे और इन्द्रको राज्य छिन जानेके भयसे मुक्ति मिली। विष्णुने यह वामनरूप इन्द्रकी सहायता करनेके लिये धारण किया था। यह पौराणिक कथा भी एक वैदिक आख्यानका विस्तृत रूप है।

विष्णुके सखा इन्द्र थे। इसके लिये ऋग्वेदमें कई उदाहरण हैं। गायोंके उद्धारके लिये तथा असुरोंसे लड़नेमें उन्होंने बराबर इन्द्रका साथ दिया है। उन्होंने ये तीन पग इन्द्रके कहनेसे ही रक्खे—

अब यह भी देखना है कि ये तीनों पैर कहाँ रक्खे गये? इसके लिये एक मत तो यह है कि श्रीविष्णुने पृथ्वी, अन्तरिक्ष और आकाशमें पैर रक्खे। दूसरा मत यह है कि पहला चरण उदयाचल (समारोहण), दूसरा मध्य आकाश (विष्णुपद) तथा तीसरा अस्ताचल (गयाशिरस)में रक्खा था। तीसरा मत यह है कि भगवान् विष्णु पृथ्वीपर अग्निरूपसे, अन्तरिक्षमें विद्युत्रूपसे तथा आकाशमें सूर्यरूपसे विद्यमान हैं। इन सब मतोंसे यह ध्वनि निकलती है कि विष्णु सूर्यका ही नाम है। पुराणोंमें भी विष्णुकी गणना बारह आदित्योंमें की गयी है। बारहवें आदित्य विष्णु ही हैं।

जगन्नियन्ता विष्णुके सृष्टि-सर्जनका स्वरूप बड़ा मनोहर है। क्षीरसमुद्रमें शेषशय्यापर भगवान् विष्णु शयन करते हैं। उनकी नाभिसे कमलकी उत्पत्ति होती है तथा कमलसे चतुर्मुख ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं। वे ही

इस समस्त सृष्टिका निर्माण करते हैं । नारद भगवान् विष्णुके स्तुतिगायक हैं तथा उनकी चरणसेवा करनेवाली लक्ष्मी उनके समीप विद्यमान है । यह चित्र प्रत्यक्ष दृश्यमान ब्रह्माण्डका ही है ।

जिस पृथ्वीपर हम निवास करते हैं, वह भूर्लोक कहलाती है । पद्मपुराणमें स्पष्टरूपसे इस पृथ्वीको कमलाकार कहा गया है । भूर्लोक, भुवर्लोक तथा स्वर्लोक-तीनों मिलकर त्रिलोकी कहलाते हैं । सूर्य या विष्णु ही इस त्रिलोकीके स्रष्टा तथा पालनकर्ता हैं, इसीलिये उनको त्रिलोकीनाथ कहा जाता है । भगवान् विष्णुके समीप स्तुतिगायक नारदकी उपस्थिति आवश्यक है । नारद शब्दकी व्युत्पत्ति नारसे होती है । **'आपो नारा इति प्रोक्ताः'**— नार शब्दका अर्थ जलसमूह तथा ज्ञान है । जलको तथा ज्ञानको भी देनेवाला नारद कहलाता है । मेघसमूह नारदके रूपमें दर्शनीय है । इसका गर्जन ही विष्णुका स्तुतिगान है । उनकी चरणसेवा करनेवाली लक्ष्मी हैं । जनलोककी दिव्य शक्ति 'श्री' हैं । श्री या लक्ष्मी इसी जनलोकरूपी समुद्रकी पुत्री हैं । विष्णुने इनका वरण करके अपनी अर्धाङ्गिनी बना लिया है । भगवान् विष्णु चार मासके लिये शयन करते हैं । वर्षा ऋतुमें सूर्यकी उष्णता कम हो जाती है । वर्षाके चार महीनोंमें तो सूर्य जैसे दिखायी ही नहीं देते । इसीके द्वारा विष्णुके चार मास-शयनकी कल्पना की गयी है ।

चारों दिशाएँ भगवान् विष्णुकी चार भुजाएँ मानी गयी हैं । उनमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म इन चार आयुधोंकी कल्पना की गयी है । इन चारों आयुधोंको कुछ विद्वान् साम, दाम, दण्ड और भेदका प्रतीक मानते हैं । कतिपय विद्वान् अग्निके **'चत्वारि श्रृङ्गाः'** से इनका साम्य स्थापित करते हैं । मेरे अनुमानसे शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म क्रमशः साम, यजु, अथर्व तथा ऋग्वेदके प्रतीक हैं । विष्णुका वाहन गरुड़ माना गया है । गरुड़को गरुत्मान् भी कहते हैं । पृथ्वीके चारों ओर जो वायुमण्डल है, वही गरुड़ है । इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टिको उत्पन्न करनेवाले सूर्य ही भगवान् विष्णु हैं ।

मुक्ति विष्णुभक्तोंके करतलगत रहती है

संसारसागरं तर्तुं य इच्छेन्मुनिपुङ्गव । स भजेद्धरिभक्तानां भक्तान् वै पापहारिणः ॥
दृष्टः स्मृतः पूजितो वा ध्यातः प्रणमितोऽपि वा । समुद्धरति गोविन्दो दुस्तराद् भवसागरात् ॥
स्वपन् भुञ्जन् व्रजंस्तिष्ठन्नुत्तिष्ठंश्च वदंस्तथा । चिन्तयेद् यो हरेर्नाम तस्मै नित्यं नमो नमः ॥
अहो भाग्यमहो भाग्यं विष्णुभक्तिरतात्मनाम् । येषां मुक्तिः करस्थैव योगिनामपि दुर्लभा ॥

(नारदपुराण, पूर्व० ३६ । ५–८)

जो संसार-सागरके पार जाना चाहता हो, वह भगवद्भक्तोंके भक्तोंकी सेवा करे; क्योंकि ये सब पापोंको हर लेनेवाले हैं । दर्शन, स्मरण, पूजन, ध्यान अथवा प्रणाममात्र कर लेनेपर भगवान् गोविन्द दुस्तर भवसागरसे उद्धार कर देते हैं । जो सोते, खाते, चलते, टहलते, उठते और बोलते हुए भी भगवान् विष्णुके नामका चिन्तन करता है, उसे प्रतिदिन बारंबार नमस्कार है । जिनका मन भगवान् विष्णुकी भक्तिमें अनुरक्त है, उनका अहोभाग्य है, अहोभाग्य है; क्योंकि योगियोंके लिये भी दुर्लभ मुक्ति उन भक्तोंके हाथमें ही रहती है ।

गीताका ज्ञानयोग—२७

श्रीमद्भगवद्गीताके चौदहवें अध्यायकी विस्तृत व्याख्या

(लेखक—श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

[गताङ्क ४, पृष्ठ १२३ से आगे]

श्लोक

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥

भावार्थ—

'हे भरतवंशी अर्जुन ! तमोगुणको अज्ञानसे उत्पन्न हुआ जान। वह संपूर्ण देहाभिमानियोंको मोहित करनेवाला तथा जीवको प्रमाद, आलस्य और निद्रासे बाँधनेवाला है। यह है तमोगुणको अज्ञानसे उत्पन्न कहनेका तात्पर्य' कि इसमें अज्ञानकी मुख्यता है। वैसे तो तीनों ही गुण अज्ञानसे होते हैं। अज्ञानकी प्रधानता होनेसे तमोगुण न तो परमार्थसाधनमें प्रवृत्त होने देता है और न (प्रमाद, आलस्य, निद्राका हेतु होनेके कारण) सांसारिक कार्योंको ही विवेकपूर्वक करने देता है।

अन्वय—

तु, भारत ! तमः, अज्ञानजम्, विद्धि, सर्वदेहिनाम्, तत्, (देहिनम्), प्रमाद-आलस्य-निद्राभिः, निबध्नाति ॥ ८ ॥

तु—और—

प्रायः यह पद प्रकरणको पृथक् करनेके लिये ही आता है। यहाँ भी तीनों गुणोंका विभाग करनेमें ही 'तु' पदकी सार्थकता है। इसके अतिरिक्त गीतामें इस 'तु' पदका प्रयोग प्रायः रजोगुणके प्रकरणमें आया है, जिसका तात्पर्य यह है कि सत्त्वगुणकी अपेक्षा रजोगुण और तमोगुण निकृष्ट हैं। कहीं-कहीं इस पदका प्रयोग तमोगुणके प्रकरणमें भी हुआ है, उदाहरणस्वरूप इसी श्लोकमें आया है।

भारत !—हे भरतवंशी अर्जुन !

तमः, अज्ञानजम्, विद्धि—तमोगुणको अज्ञानसे उत्पन्न होनेवाला जान।

शङ्का—इस अध्यायके सत्रहवें श्लोकमें तो अज्ञानकी उत्पत्ति तमोगुणसे कही गयी है, जब कि यहाँ तमोगुणको अज्ञानसे उत्पन्न होनेवाला कहा है ? इसका क्या भाव है ?

समाधान—इसका तात्पर्य यह है कि तमोगुणसे अज्ञान बढ़ता है और अज्ञानसे तमोगुण उत्पन्न होता है। इन दोनोंमें भी बीज-वृक्षकी भाँति अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध है ? अज्ञानको बीज और तमोगुणको वृक्ष मानना चाहिये।

सर्वदेहिनाम्, मोहनम्—सम्पूर्ण देहधारियोंको मोहित करनेवाला है।

भगवान् इन पदोंसे यह निर्देश कर रहे हैं कि मनुष्यमें जब तमोगुण बढ़ जाता है, तब उसकी बुद्धि मूढ़तासे आवृत हो जाती है। बुद्धिमें मूढ़ताके आच्छादनसे सत्त्वगुणके कार्य—प्रकाश और ज्ञान ढक जाते हैं तथा रजोगुणके कार्य—पारमार्थिक और व्यावहारिक प्रवृत्तिकी क्षमता नहीं रहती, अर्थात् तमोगुणके कारण प्राणीका विवेक पूर्णतः आच्छादित हो जाता है। तात्पर्य यह है कि तमोगुण बढ़नेपर मनुष्य जब विवेकहीन हो जाता है, तब उसके आचरण राक्षसोंकी तरह हो जाते हैं, वह मनुष्यत्वसे गिर जाता है।

संसारमें तमोगुणी प्राणी अधिक हैं। तमोगुण तमोगुणी मनुष्योंको मोहित करके बाँधनेवाला तो है ही; रजोगुणी और सत्त्वगुणी मनुष्योंमें भी जो तमोगुणका अंश है, वह उनको भी मोहित करके बाँध देता है।

अतः यहाँ बहुवचनात्मक **देहिनाम्** पद देकर भगवान् कहते हैं कि तमोगुण केवल तमोगुणी पुरुषोंको ही नहीं बाँधता, प्रत्युत उन सभी प्राणियोंको, जो देहके साथ अपना सम्बन्ध मानते हैं, बाँध देता है। **'सर्वदेहिनाम्'** बहुवचनका एक तात्पर्य यह भी है कि तमोगुण बढ़नेपर मनुष्यकी चौरासी लाख योनियोंके अन्य प्राणियोंसे साम्यता हो जाती है और वह पतनके गर्तमें चला जाता है, अर्थात् तमोगुणी मनुष्य जिस स्थितिमें है, उससे भी और नीचेकी स्थितिमें चला जाता है, जब कि सत्त्वगुणी और रजोगुणी मनुष्य उतने ही अंशोंमें पतनके भागी होते हैं, जितने अंशोंमें उनमें रजोगुण और तमोगुण बढ़ता है। (तमोगुणके प्रति सावधान होनेका उल्लेख आगेके विवेचनमें देखना चाहिये।)

तत् (देहिनम्)–वह (देहाभिमानी पुरुषको)

प्रमादालस्यनिद्राभिः, निबध्नाति–प्रमाद, आलस्य और निद्राके द्वारा बाँधता है।

प्रमाद दो प्रकारका होता है—(१) अक्रिय और (२) सक्रिय।

(१) करने योग्य कामको न करना अक्रिय प्रमाद है। जैसे माता-पिताकी सेवा न करना अथवा द्विजाति होकर संध्या-वन्दन न करना आदि। प्राप्त अवसरका सदुपयोग न करना भी अक्रिय प्रमाद है। प्रमादवश निष्क्रिय रहनेसे आयु वृथा जाती है।

(२) अकरणीय कार्यको करना सक्रिय प्रमाद है। जैसे—ताश-चौपड़ खेलना, नाटक-सिनेमा देखना, बीड़ी-सिगरेट पीना आदि। सक्रिय प्रमादमें शास्त्र-निषिद्ध और व्यवहारमें वर्जित दोनों प्रकारके कार्य सम्मिलित हैं।

अपने वास्तविक स्वरूपको भूलकर शरीरादिको 'मैं' और शरीरकी मृत्युको अपनी मृत्यु मानना प्रमाद है। शास्त्रोंमें इसे स्वरूप प्रमाद कहा है। **'प्रमादं वै मृत्यु-महं ब्रवीमि।'** (सनत्सु० ४२। ४) प्रमाद ही मृत्यु है।

प्रमाद सर्वथा त्याज्य है। प्रमाद (निरर्थक क्रियाओं)की ओर विशेष झुकाव रहनेके कारण तमोगुणी मनुष्य पापकर्मोंमें प्रवृत्त होता है।

आलस्य–निद्रासे पहले शरीरमें जो भारीपन प्रतीत होता है, उसे आलस्य कहते हैं। तन्द्राके वशीभूत हो अथवा व्यर्थ बैठे रहनेके स्वभावसे कर्तव्यकर्मको टालते रहना। जैसे—'आजका काम कल कर लेंगे'—यह भी आलस्यका ही एक प्रकार है। (यह दोष पशु-पक्षियोंमें भी देखनेमें आता है। जैसे कोई पशु तेज-धूप या वर्षामें भी बाहर बैठा रहता है, वह उठकर धूप या वर्षारहित स्थानपर नहीं आता)।

कर्तव्य कर्मको टालनेवाला आलस्य भी प्रमादकी तरह सर्वथा त्याज्य है।

निद्रा–तन्द्रा, स्वप्न और सुषुप्ति–तीनोंका नाम निद्रा है। शरीरादिमें होनेवाली थकावटको दूर करनेके लिये अर्थात् क्षीण हुई शक्तिको प्राप्त करनेके लिये उचित निद्रा सभीके लिये आवश्यक है। (शास्त्रोंमें आयु और योनिके अनुसार निद्राका समय निश्चित है।)

निद्रामें दो वृत्तियाँ होती हैं—पहली विश्राम करने-वाली वृत्ति और दूसरी मोहित करनेवाली। विश्राम-करनेवाली वृत्तिसे शरीरको विश्राम मिलता है एवं नयी स्फूर्ति आती है, जिससे जगनेपर प्राणी पुनः नयी शक्तिसे कार्य करता है—**'युक्तस्वप्नावबोधस्य'** (६। १७) पदोंसे भगवान् शरीरादिके विश्राम-हेतु निद्राको आवश्यक बताते हैं। मोहित करनेवाली वृत्ति अर्थात् अतिनिद्रा जड़ताका ही एक प्रतिरूप कहा जा सकता है। इस जड़ताजन्य सुखके भोगीको कुछ ज्ञान नहीं रहता। अनावश्यक होनेके कारण यह अतिनिद्रा दोषपूर्ण है।

'न चाति स्वप्नशीलस्य' (६।१६) पदोंसे भगवान्‌ने कहा है कि अति निद्रालुका योग (परमात्माकी प्राप्तिका लक्ष्य) सिद्ध नहीं होता। निष्कर्ष यह है कि अतिनिद्रा दोषपूर्ण और योगकी प्राप्तिमें बाधक है।

तमोगुण मनुष्यको प्रमाद, आलस्य और निद्राद्वारा गुणातीत होनेके साधनोंसे वञ्चित रखकर जन्म-मरणमें फँसाये रखता है। इनके द्वारा तमोगुणका बाँधना और पतनकी ओर ले जाना यही है। मनुष्यको बाँधनेवाले तमोगुणके तीन पाशों—प्रमाद, आलस्य और निद्राके क्रमसे भगवान् यह बताना चाहते हैं कि तीनोंमें प्रमाद अति भयावह हैं; आलस्य उससे कम और निद्रामें तो केवल अतिनिद्रा ही दोषपूर्ण है।* उचित निद्रा लेना दोष नहीं है। यह नियम है कि जो सबसे अधिक भयावह है, उसीका बन्धन सबसे प्रबल होता है। अतः प्रमाद और आलस्य तो सर्वथा त्याज्य हैं ही, अतिनिद्रासे भी मनुष्यको सावधान रहना चाहिये।

विशेष बात—उपर्युक्त चार श्लोकोंमें भगवान्‌ने देहाभिमानी अविनाशी देहीके तीनों गुणोंद्वारा बँध जानेकी बात कही है। तीनों गुण प्रकृतिके कार्य हैं और जीव स्वयं परमात्मस्वरूप या परमात्माका अंश है। गुणोंके साथ सम्बन्ध जोड़नेके कारण ही वह स्वयं निर्लिप्त होता हुआ भी गुणोंके द्वारा बँध जाता है। वास्तवमें उसका अपना स्वरूप गुणोंसे सर्वथा असम्बद्ध और निर्लिप्त है। अतः अपने वास्तविक स्वरूपका लक्ष्य रखनेसे ही साधक गुणोंके बन्धनसे छूट सकता है।

(क्रमशः)

गीतासे सब समस्याओंका हल

'.........जब-जब संकट पड़ते हैं, तब-तब संकट टालनेके लिये हम गीताके पास दौड़ जाते हैं और उससे आश्वासन पाते हैं। हमें गीताको इस दृष्टिसे पढ़ना है। वह हमारे लिये सद्गुरुरूप है, मातारूप है और हमें विश्वास रखना चाहिये कि उसकी गोदमें सिर रखनेसे हम सही-सलामत रहेंगे। गीताके द्वारा हम अपनी तमाम धार्मिक उलझनें सुलझावेंगे। इस विधिसे जो रोज गीताका मनन करेगा, उसे उसमेंसे नित्य नया आनन्द मिलेगा—नये अर्थ प्राप्त होते रहेंगे। ऐसी एक भी धार्मिक समस्या नहीं, जिसे गीता हल न कर सके।

—महात्मा गांधीजी

* अठारहवें अध्यायके ३९वें श्लोकमें तामस सुखका वर्णन करते हुए भगवान्‌ने उपर्युक्त क्रमके सर्वथा विपरीत क्रम रक्खा है। अर्थात् वहाँ निद्रा, आलस्य और प्रमाद यह क्रम है—

'निद्रालस्यप्रमादोत्थम्'—इसका रहस्य यह है कि अठारहवें अध्यायमें क्रमशः सात्त्विक, राजस और तामस सुखका वर्णन हुआ है अर्थात् सबसे पहले उत्तम, मध्यमें मध्यम और अन्तमें निकृष्ट सुखका उल्लेख हुआ है। अतः तामस सुखका वर्णन करते हुए भी यही क्रम रखना युक्ति-सङ्गत हुआ। तात्पर्य यह है कि निद्रा, आलस्य और प्रमादके सुखोंमें निद्राका सुख आवश्यक होनेसे आलस्य और प्रमाद-जनित सुखोंसे अच्छा है। आलस्यका सुख मध्यम और प्रमादका सुख निकृष्ट अर्थात् त्याज्य है। तामसी सुखके वर्णनमें आया हुआ वह विपरीत क्रम भी उसी अर्थको प्रकट करता है, जिसे भगवान् इसी श्लोकमें इस क्रमसे बतलाना चाहते हैं। (उचित निद्राका सुख सात्त्विक है, आलस्यका सुख राजस और प्रमादका सुख तामस है)।

श्रीकृष्णका लोकनायकत्व

(लेखक—पं० श्रीसूर्यमणिजी त्रिपाठी, एम्० ए०, साहित्याचार्य)

अवतारोंकी पावन श्रृङ्खलामें योगीश्वर श्रीकृष्णका नाम आधुनिक परिस्थितिके परिप्रेक्ष्यमें विशेष अनुकूल एवं आदर्श सिद्ध होता है । भौतिकताकी नित्यनूतन स्पर्द्धामें मानवीयताका तिरोभाव न तो लौकिक हितमें है और न तो सांस्कृतिक श्रृङ्खलाके ही हितमें । राम और कृष्ण इस धरतीके मानवके ही नहीं, बल्कि पशु, पक्षी, शिला, तरु, लता, एवं कुञ्जोंके अन्तरात्मामें लौकिक एवं पारलौकिक भावनाओंसे सहज ही समा गये हैं । श्रीकृष्णकी कीर्तन-गाथा इतनी विस्तृत-व्यापक एवं सार्व-भौमिक है कि उसपर किंचिन्मात्र भी चिन्तन शेष नहीं रह जाता । जीवात्मामें समाया कृष्ण-भक्तिरस दूसरे रंगको न तो रुचता है और न सहज सुरभित ही होता है । इसी भक्तिभावनाके कारण प्राचीन कृष्ण-भक्तिरस नित्यनूतन रसास्वाद कराता है । हमारी संस्कृति एवं कृष्णका लोकनायकत्व चरित्र ही इसका कारण रहा है । श्रीकृष्णके विषयमें अनेक ग्रन्थोंमें चर्चाएँ मिलती हैं; किंतु उनमें श्रीमद्भागवत सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है । कृष्णके समग्र लोकहितके क्रियाकलापोंपर वर्तमान परिस्थितियोंके तुलनात्मक रूपमें देखा जाय तो कृष्णका व्यक्तित्व दर्पणके समान उज्ज्वल दृष्टिगोचर होता है—

वसुदेवगृहे साक्षाद् भगवान् पुरुषः परः ।
(श्रीमद्भा० १० । १ । २३)

तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणं ।
चतुर्भुजं शङ्खगदायुदायुधम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । ३ । ९)

साक्षात् अवतार होनेके कारण भगवान् श्रीकृष्णने लोकहितमें ही अपने-आपको समर्पित कर दिया । किसी भी वस्तुके स्वीकारात्मक एवं नकारात्मक—ये उभय पक्ष होते हैं । एक ओर उज्ज्वल चरित्र पारखी भक्त पिपासु हैं तो दूसरी ओर कीचड़ उछाड़नेवाले भी हैं । स्वीकारात्मक विषयपर कृष्णचर्चामें सर्वत्र व्यापक अभिव्यक्ति मिलती है; किंतु नकारात्मक पक्षपर एकत्रीकृत सामग्री अपेक्षाकृत कम ही दृग्गोचर होती है । नकारात्मक पक्षमें सर्वाधिक गोपी-चीरहरण, माखनचोरी, गोपाङ्गनाओंसे छेड़छाड़, रासलीला, महाभारत युद्धमें पाण्डव पक्षमें होना आदि कृष्ण-लीलाओंको शंकाभरी दृष्टिसे देखा जाता है । गोपालोंके साथ गोचारणकालमें भगवान् योगेन्द्रकृष्णने चीर-हरणका अभिनय लोकमानसके समक्ष रखा—

हेमन्ते प्रथमे मासि नन्दव्रजकुमारिकाः ।
चेरुर्हविष्यं भुञ्जानः कात्यायन्यर्चनव्रतम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । २२ । १)

यूयं विवस्त्रा यदपो धृतव्रता
व्यगाहतैतत्तदु देवहेलनम् ।
बद्ध्वाञ्जलिं मूर्ध्न्यपनुत्तयेऽंहसः
कृत्वा नमोऽधो वसनं प्रगृह्यताम् ।
इत्यच्युतेनाभिहिता व्रजाबला
मत्वा विवस्त्राप्लवनं व्रतच्युतिम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । २२ । १९-२०)

ये कुमारी बालाएँ कृष्णासक्तिके लिये कात्यायनी व्रत कर रही थीं । सरिता-जलमें नग्नस्नान वरुणदेवका अपमान तो था ही, एक सामाजिक बुराई भी थी, इसी कुरीतिको नष्ट करनेके लिये कृष्णने प्रयास किया । इस प्रकारकी दृष्टिसे किया गया प्रयास कभी भी किसी प्रतिष्ठित भाई-बापको सहन नहीं होता । किंतु इस कार्यपर गोपालोंके सहयोगसे स्पष्ट है कि लौकिक कुरीतिपर ही सीधा प्रहार श्रीकृष्णका अभिप्राय था । इन्द्रकी गोवर्धन-पूजामें अपमानकी कथा लोक-भावना एवं समाजवादपर ही आधृत है । यही अभिप्राय—

तस्मात् सम्पूजयेत् कर्म स्वभावस्थः स्वकर्मकृत्।
अञ्जसा येन वर्तेत तदेवास्य हि दैवतम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । २४ । १८)

देवताकी मर्यादाके साथ ही उन्होंने जन्तु-मर्यादा-निर्णय देकर अपना तर्कसंगत मत स्पष्ट किया—

कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव विलीयते।
सुखं दुःखं भयं क्षेमं कर्मणैवाभिपद्यते ॥
(श्रीमद्भा० १० । २४ । १३)

कृष्णका निर्णय

एतन्मम मतं तात क्रियतां यदि रोचते।
अयं गोब्राह्मणाद्रीणां मह्यं च दयितो मखः ॥
(श्रीमद्भा० १० । २४ । ३०)

कृष्णने अपने सार्वभौतिक निर्णयको जनमानस एवं वृद्धोंकी स्वीकृतिपर ही कार्यान्वित किया । जनहितमें यदि निर्णय न होता तो सारे गोपाल कृष्णके सहयोगी न बनते। लोकभावनाका समादर श्रीकृष्णका अभिप्राय था। माखनचोरीके संदर्भमें कृष्ण ग्वालवालोंके साथ चोरी करते कहे गये हैं । सूरदासने अपने पदोंमें विनोदात्मक एवं बालसुलभ युक्तियोंसे कृष्णकी लोकनिन्दाको भक्ति-भावनासे निवृत्त ही कर दिया है । फिर भी शङ्कालुओंको धैर्य धारण कराना ही चाहिये। श्रीकृष्णने ग्वालवालोंका एक ऐसा क्रान्तिकारी वर्ग संगठित किया, जो उस समय गोकुलसे जानेवाले दूध, मक्खन, दही आदि पदार्थोंकी या तो उचित कीमत दिलाना चाहता था या उपभोगोपरान्त विक्रयको क्रियान्वित करना चाहता था। मथुरा एक धनिक नगर था। वहाँसे ग्वालोंको शोषणमुक्त करानेका यह युवा-वर्गका अभियान कृष्णको अभिप्रेत था । इसी अभिप्रायसे प्रेरित ग्वालोंने श्रीकृष्णका साथ दिया और ग्वालिनियोंको उनके पूर्वकृत्यसे रोकनेमें कृष्णको सफलता मिली ।

गोपियोंका जन्म

जनिष्यते तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः ।
..............कार्यार्थे सम्भविष्यति ॥
(श्रीमद्भा० १० । १ । २३)

गोपियाँ (सुरस्त्रियाँ) भगवान्‌के इच्छानुसार लीलासे लोक-सम्मोहित करनेके अभिप्रायसे आयी थीं । बार-बार योगीश्वर शब्दका प्रयोग इस भावनाका सूचक है कि कुदृष्टिसे पराङ्गनाओंको देखना कृष्णको कदापि अभीष्ट न था।

महाभारत-युद्धमें कौरवोंके विपक्ष और पाण्डवोंके पक्षका अति तार्किक उत्तर कृष्णके ही वचनामृतोंमें स्पष्ट है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥
(गीता ४ । ७-८)

साधुओंका परित्राण और दुष्कृतोंका विनाश ही उनके अवतारका प्रयोजन तथा लोकनायकत्वका उद्देश्य भी था ।

मुझको कमी क्या ?

(रचयिता—डॉ० श्रीजगदीशजी वाजपेयी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

गौरव गुविन्द देंगे, सुख-शांति श्याम देंगे।
यश देंगे यशुदा-तनय मनभावने ॥
मोक्ष देंगे माधव, विवेक व्रजनाथ देंगे।
बलवीर वीर देंगे बल सरसावने ॥
अर्थ देंगे अच्युत, कन्हैया कल-कीर्ति देंगे,
चीरके हरैया देंगे वसन लुभावने।
मुझको कमी क्या, जब इतने हितैषी मिले,
मोद देंगे मोहन विनोद बरसावने ॥

गीताके राम

(**रामः शस्त्रभृतामहम्**—शस्त्रधारियोंमें मैं राम हूँ) (—श्रीकृष्ण)

अर्जुन श्रीकृष्णके परम सखा थे। अर्जुन महाभारत युद्धके पहले स्वजनोंके मरने-मारने और सामाजिक व्यवस्था बिगड़नेकी समस्याके चक्करमें थे। उन्हें सांसारिक मोहने—व्यामोहने आ घेरा था। उनके सामने अन्धेरा था। उनकी सूझ-समझ निष्क्रिय थी, कुण्ठित थी। वे सचमुच **'धर्मसम्मूढचेताः'** बन गये थे, व्यामोहित हो चुके थे। वे धर्माधर्म, कर्तव्याकर्तव्य नहीं समझ पा रहे थे। क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये—यह उनकी बुद्धि-सीमाके परे हो चुका था। बेचारे बड़े असमञ्जसमें थे। वे कायरताके कारण अपने आपको खो चुके थे, पर चाहते थे 'श्रेय' (कल्याण)। उन्होंने श्रीकृष्णकी शरण ली—उन श्रीकृष्णकी जिनको विभूतिरूपमें श्रीराम और श्रीवासुदेव जाने-माने जा सकते हैं; पर तत्त्वतः परात्पर परमात्मा पुरुषोत्तम हैं—**(उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः)**। आचार्य मधुसूदन सरस्वती तो उनसे परे कोई और तत्त्व ही नहीं स्वीकार करते—**'कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने।'** श्रीकृष्णने **'मोहमूर्छित'** अर्जुनको गीताका अमृत पिलाया। उन्हें चेतना मिल गयी। उनका मोह—व्यामोह मिट गया, अन्धेरा दूर हो गया। श्रीकृष्ण-ज्योतिके समक्ष लेनेपर वे बोल पड़े—**'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत'** 'हे अच्युत! आपकी कृपासे मेरा मोह दूर हो गया, अपनी वास्तविक स्मृति हो आयी, स्वरूपकी झलक मिल गयी।' अब वे कर्तव्य-कर्मके लिये 'किंकर्तव्य विमूढ' नहीं थे, चेत चुके थे। गीताके प्रकरणने जादूका काम किया। अब वे **'करिष्ये वचनं तव'** पर दृढ़ हो गये थे। गीताकी यथा-कथा यही है।

परंतु, गीता विश्वकी 'क्यों' और 'कैसे' की पहेलियोंका समाधान है। यह विश्वके मूलभूत संवाद-प्रश्नोंकी सुदृढ़, स्पष्ट उत्तरावली है। पूज्य महामना मालवीयजी महाराज कहा करते थे—'गीता धर्मकी लालटेन है। इसने शाश्वत धर्मके तत्त्वोंको प्रकाशित किया है। यह गुह्यज्ञानकी डिबिया है, स्यात् इसीलिये भगवान्ने स्वयम् भगवती पृथ्वीसे कहा था—पृथ्वि! गीता मेरा हृदय है—**'गीता मे हृदयं पृथ्वि!'**

गीताके प्रत्येक अध्यायमें धर्मके एकतत्त्वकी मीमांसा है; विवेचना है। गीताका प्रत्येक अध्याय तो क्या प्रत्येक वाक्य उपनिषद्-वाक्य है, वेदवाणी है। गीताका दसवाँ अध्याय **'विभूतियोग'** है। इसमें विश्वके पदार्थोंमें निहित (छिपी) भगवान्की कतिपय उपलक्षक (अपने समान औरोंको भी लखानेवाली) विभूतियोंका परिचय कराया गया है। साथ ही पूर्ण परब्रह्मके रूप श्रीकृष्णभगवान्ने यावद्विभूतिमान पदार्थोंको अपना अंश **'मम तेजोंऽश सम्भवम्'** बतलाया है। गीतामें **'अविभक्तं विभक्तेषु'**के आत्मारामकी चर्चा (तत्त्वतः सर्वत्र) है। श्रीमद्भागवतमें भी 'आत्माराम'के दर्शन होते हैं। श्रीरामकी व्यापकता दार्शनिक है—आध्यात्मिक है। 'राम' घट-घट व्यापक और **'सोइ सच्चिदानंद घन रामा'** हैं, किंतु गीताने उनके नयनाभिराम रामवाले उस स्वरूपको विभूतियोगमें समेटा है जो **'धनुर्वेदे च निष्ठितः'**से प्रतिष्ठित है और इसलिये शस्त्रधारी हैं कि सारे संसारका संरक्षण करना—मर्यादाका परिपालन करना उन्हीं रामके पल्ले था; इसीलिये उनका अवतार भी हुआ था—

'बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।'

भारतीय मान्यतामें श्रीकृष्ण लीला-विग्रहके लिये और श्रीराम मर्यादा-संरक्षणके लिये चर्चित और अर्चित हैं। एक लोक-रञ्जक हैं, दूसरे लोक-रक्षक। गीतामें एकको

'वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि'से कहा गया है और दूसरेको 'रामः शस्त्रभृतामहम्'से स्मरण किया गया है। दोनोंके दो रूप हैं, पर स्वरूप 'अहमस्मि' एक है। दोनों परमात्म-स्वरूप हैं। श्रीकृष्णने अलौकिक लीलाओंसे लोकरञ्जन कर लोकमङ्गल किया और श्रीरामने लोकमर्यादाके रक्षणसे विश्वका कल्याण साधा। यदि एककी लीला श्रवणीय है तो दूसरेका चरित्र स्पृहणीय है। हम दोनोंके नाम लेते हैं। दोनोंके नाम-रूप परम मङ्गल-दायक हैं। भक्त भाव-विभोर होकर गाते हैं—'जगमें मीठे हैं दो नाम चाहे कृष्ण कहो या राम।' बात ठीक है, सटीक है। श्रीराम और कृष्णके दो रूप हैं, पर स्वरूप एक है। दोनों अव्यक्त परमात्माके व्यक्तरूप हैं।

श्रीराम एक ओर आत्माराम हैं और दूसरी ओर शील-शक्ति और सौन्दर्यके निधान हैं। शीलका उत्कर्ष, शक्तिकी सामर्थ्य और सौन्दर्यका अप्रतिम प्रभाव कहीं भी रामचरित-काव्योंके श्रीराममें भलीभाँति देखा जा सकता है। वस्तुतः यह उक्ति सटीक है कि—

'सकल लोक अभिराम राम हैं, है न राम-सा कोई'।
(वैदेही-वनवास)

किंतु शस्त्रिता उनकी अपनी विशेषता है, जो अनुपम है—सर्वथा अद्वितीय है। महर्षि विश्वामित्र, ब्रह्मर्षि वसिष्ठ और महामुनि अगस्त्यजीने जिन दिव्य अस्त्र-शस्त्रोंको देकर रामकी शस्त्रधारिताको अपूर्व बनाया था, उनकी लम्बी सूची महर्षि वाल्मीकिने रामायणमें यथास्थान अनुस्यूत की है। बला एवं अतिबला विद्याएँ अस्त्र-शस्त्रसे सम्बद्ध थीं, जिन्हें उन्हें उनके गुरुदेवने दिया था। वस्तुतः वे शस्त्रास्त्र भगवान्की शक्तिके अप्रतिम प्रभाव थे और यह इसलिये कि वे अमोघास्त्र थे।—'जिमि अमोघ रघुपति कै बाना'-से उनका अस्त्र-शस्त्र-कौशल ही नहीं, साफल्य भी सूचित है।

महर्षि वाल्मीकिने उन्हें 'सत्यः सत्यपराक्रमः' और 'द्विःशरं नाभिसंधत्ते' कहकर उनके अतुलनीय पराक्रम और अमोघशस्त्रिताका उल्लेख किया है। वास्तवमें 'श्रीराम धनुर्वेदविदोंमें सर्वश्रेष्ठ थे और महारथियोंमें भी उन्हें सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त था। वे आक्रमण और भक्तरक्षण करनेमें अत्यन्त कुशल और सैन्य-संचालनमें अत्यन्त निपुण थे। युद्धमें क्रुद्ध देव-दानव उन्हें पराजित नहीं कर सकते थे। (फिर भी) वे न तो दूसरोंके गुणोंमें दोषदृष्टि रखते थे और न अनुपयुक्त स्थलपर क्रुद्ध ही होते थे। गर्व और परोत्कर्षकी असहिष्णुता उनमें छूतक नहीं गयी थी।' (वा० रा० २१। २९-३०) वे 'वज्रादपि कठोर' थे और 'कुसुमादपि मृदु' उनकी अनुपम शक्ति-शील और सौन्दर्यसे सम्पुटित थी। शील, शक्ति-सौन्दर्यकी त्रिपुटीका सुन्दर समन्वय श्रीराममें था। शीलसे मर्यादा-पालन, शक्तिसे संसारका संरक्षण और सौन्दर्यसे लोक-रञ्जन हुआ। सर्वशास्त्रमयी गीताने उनमेंसे शक्ति-विभूतिके रूपमें श्रीरामका विशेष निर्देश किया—'रामः शस्त्रभृतामहम्'। (—गीतामनीषी)

श्रीरामकी अस्त्र-विद्या

सर्वसंग्रहणं येषां दैवतैरपि दुर्लभम्। तान्यस्त्राणि तदा विप्रो राघवाय न्यवेदयत्॥
जपतस्तु मुनेस्तस्य विश्वामित्रस्य धीमतः। उपतस्थुर्महार्हाणि सर्वाण्यस्त्राणि राघवम्॥
(वाल्मीकीय रामा० १। २७। २३-२४)

'जिन अस्त्रोंका पूर्णरूपसे संग्रह करना देवताओंके लिये भी दुर्लभ है, उन सबको विप्रवर विश्वामित्रजीने श्रीरामचन्द्रजीको समर्पित कर दिया था। बुद्धिमान् विश्वामित्रजीने ज्यों ही जप आरम्भ किया त्यों ही वे सभी परमपूज्य दिव्यास्त्र स्वतः आकर श्रीरामजीके समीप उपस्थित हो गये।'

गोस्वामी तुलसीदास और समर्थ गुरु रामदासकी भक्ति-भावना

(लेखक—डॉ० श्रीदूधनाथधरजी दुबे)

भारतीय भक्ति-साधना भिन्न-भिन्न भक्तोंद्वारा भक्तिके क्षेत्रमें अभिव्यक्त हुई है। बिना भावयोगके भक्ति असम्भव है। सिद्धान्तकी दृष्टिसे भक्तिकी व्याख्या और उसके स्वरूपोंका विवेचन अनेक प्रकारसे किया गया है; परंतु बिना भगवत्कृपाके भगवान्‌के लिये हृदयमें भक्ति-रसका उत्पन्न होना प्रायः असम्भव-सा है। लोकनायक तुलसीदास-जैसे प्रातःस्मरणीय भक्त इस 'अनपायिनी' भक्तिको दुर्लभ कहते हैं—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥
(मानस २। १२७। २)

ऐसी उनकी उक्ति इसी बातको प्रमाणित करती है। जिस भक्तिने राम-जैसे श्रेष्ठ उपास्यकी प्रतिष्ठापना की, उसके बिना जीवनमें कोई रस ही नहीं रह जाता। इसे भगवान् शंकरने भी अपनाया। 'रामनाम'की अमोघ महिमा भी इसीके अन्तर्गत है। इसी 'राम-तारक' मन्त्रको जानने-के लिये—'जन्म कोटि लगि रगर हमारी। बरउँ संभु न तु रहउँ कुआरी॥' (मानस १। ८१। ३)की प्रतिज्ञा कर भगवती पार्वतीने शिवको पतिरूपमें रामकृपासे प्राप्त किया। इस अथक परिश्रम, अनवरत साधना और असाधारण तपस्याने उन्हें 'उमा' नामसे अभिहित किया। कवि-कुलगुरु कालिदास (कुमारसम्भव काव्य १। २६में) इसका साक्ष्य इस प्रकार देते हैं—

उ मेति मात्रा तपसो निषिद्धा
पश्चादुमाख्यां सुमुखी जगाम।

अर्थात्—पर्वतसे उत्पन्न होनेके कारण पिताने और परिजनोंने सबकी दुलारी उस कन्याको पार्वती कहकर पुकारना प्रारम्भ कर दिया। बादमें जब उनकी माताने 'उ (सम्बोधन) अर्थात् हे वत्से ! 'मा'— मत (तपस्या) करो' कहकर तपस्या करनेसे रोका था, तबसे उनका नाम 'उमा' पड़ गया। इस तरहकी जो सतत निष्ठा कर सकी, वही राम-भक्तिका रहस्य जाननेका अधिकार और पात्रता प्राप्त भी कर सकी। लिखनेका तात्पर्य यह कि रामभक्ति-भावनाको साधन-मूल्यके रूपमें साध्य बनाकर विश्वके इतिहासमें सर्वप्रथम शंकरजीने पार्वतीजीके मनकी शङ्काको दूर करनेके लिये इसी रामकथाको सुनाया था। इसे ही तुलसीदासजीने आत्मसात् किया है—यही मानसका वस्तुतत्त्व है।

प्रश्न उपस्थित होता है कि रामभक्तिका आदि-मर्मज्ञ शिवजीको छोड़कर क्या कोई और भी हो सकता है ? विचार करनेपर इसका उत्तर यही मिलता है कि अन्य कोई नहीं। यह रामभक्ति-साधना संसारभरके सभी देशोंमें अपनी-अपनी पद्धतिके अनुसार स्थान प्राप्त कर चुकी है। भारतीय भक्ति-साधनाके कई प्रकार अपने भिन्न-भिन्न स्वरूपोंमें भारतकी क्षेत्रीय भाषाओंमें पारम्परिक रूपोंमें आकार ग्रहण करते रहे हैं। यह रामभक्ति सगुण और निर्गुणकी गङ्गा-यमुनाके रूपमें निष्ठारूपी सरस्वतीसे भी मिल गयी है। इसे ही तुलसीदासजी 'सरसइ ब्रह्म बिचार प्रचारा' कहते हैं। महर्षि वाल्मीकि रामतारकमन्त्रका उल्टा जप करके भी रामभक्ति और रामायण निर्माण कर सर्वप्रथम आदि-कविके रूपमें हमारे सम्मुख उपस्थित हुए। कहना न होगा कि रामोपासनाका मुख्य श्रेय वाल्मीकि, व्यास, रामानुज, रामानन्दादिके बाद तुलसी-दासजीको ही मिलना चाहिये। लोकाभिराम मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्र अपने आदर्श जीवनके कारण मानवमात्रके लिये जीवनके हर क्षेत्रमें आदर्श भगवान् बन गये। यही वाल्मीकि कलियुगकी भीषण विभीषिकाओं, विधर्म, संस्कृतिके सतत अत्याचारों, स्वार्थके क्रूर और अमानुषिक मोहजालमें फँसे हुए जड़

जीवोंके उद्धारके लिये तुलसी बनकर अवतरित हुए। नाभादासजीका यह कथन द्रष्टव्य है—

'संसार अपारके पार कौ सुगमरूप नौका लयो।
कलि कुटिल जीव निस्तार हित बालमीकि तुलसी भयो॥
(भक्तमाल)

यह रामभक्ति-साधना जिस दीन-भावसे तुलसीदासजी करते रहे, उसे वे भला अपनेतक ही कैसे सीमित रखते। गोस्वामी तुलसीदासजीके विषयमें प्रायः विद्वानोंका यह मत है कि उन्होंने अपना कोई सम्प्रदाय नहीं चलाया। पर तुलसी-साहित्यके मूर्धन्य विद्वान् मनीषी और गुरुवर आचार्य पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्रजीकी यही धारणा रही है कि तुलसीदासजीने एक विशेष वैष्णव-शाखाका प्रवर्तन किया था, जो 'राम-किंकर-सम्प्रदाय'-के नामसे पुकारा जा सकता है। मुझे भेजे गये एक पत्रमें आप कहते हैं कि 'मेरा अनुमान है और कुछ तथ्य भी मेरे पास हैं, जिससे संकेत मिलता है कि तुलसीदासजीने एक विशेष वैष्णव-शाखाका प्रवर्तन किया था। उसका नाम रामकिंकर-शाखा था। समर्थगुरु रामदासका सम्प्रदाय उनके नामपर सही रामदासी कहलाता है। दोनों ही संतोंके मन्त्र भी एक ही हैं। दक्षिण भारतमें जो जन-जसवंत नामके तुलसीदासके एक शिष्य थे, उन्हींके समयमें वे वहाँ थे। इसलिये तुलसीदासकी विचारधारा समर्थगुरुके जीवन-कालके बहुत पहले वहाँ पहुँच चुकी थी, इसमें कोई संदेह नहीं है।

दक्षिणमें और विशेषतया महाराष्ट्रमें समर्थगुरु रामदासकी रामभक्ति और शक्ति-उपासनाका बीज तुलसीदासजीकी भक्तिभावनामें खोजा जा सकता है। समर्थ रामदासजीका सम्प्रदाय, जिसमें रामदास्यकी समर्थ-साधना प्रतिष्ठित की गयी है, वह यही सिद्ध करती है कि इन दोनों संतोंमें कहीं कोई ऐसा सूत्र रहा है, जो उनको जोड़ता है।

गोस्वामी तुलसीदास और समर्थगुरु रामदासकी भक्ति-भावनाके बीचमें प्रायः डेढ़ सौ वर्षोंका अन्तर है। रामकिंकर-सम्प्रदायके रामूक अथवा रामू द्विवेदी, महाराष्ट्रके जन-जसवंत, हिसार (पंजाब)के आनन्दराम तथा स्वतन्त्ररूपसे परम कारुणिक संत एकनाथ-जैसे रामोपासक इस कड़ीको जोड़ते हैं। 'मुक्ति-जन्म-महि' वाराणसीमें तुलसीदासजीके समकालीन संत एकनाथजी अपनी भागवती साधना कर रहे थे। उनका 'एकनाथी भागवत' नामक महाग्रन्थ काशीके विद्वानोंद्वारा मान्य हुआ था। यह एक आश्चर्यकी बात है कि दत्तोपासक एकनाथने जीवनभर कृष्ण-भक्ति की तथा दूसरी ओर 'भावार्थ-रामायण'-जैसे दूसरे महाग्रन्थकी रचना की। एकनाथजीकी रामभक्ति-भावनाका बीज उनके हृदयमें वाराणसीमें ही बोया गया होगा, जो महाराष्ट्रमें जाकर प्रस्फुटित हुआ। प्रमाण भले ही न मिले, पर यह असम्भव है कि तुलसीदास और संत एकनाथ एक दूसरेसे न मिले हों, जब कि वे वाराणसीमें एक ही समय विद्यमान थे। समर्थ-गुरु रामदासने 'भावार्थ-रामायण'के कई पारायण किये थे। भावार्थ-रामायणके जिन अंशोंको संत एकनाथने छोड़ा था, उन्हींमेंसे युद्धकाण्डको सूत्ररूपसे पकड़कर समर्थगुरु रामदासने अपनी रामायण पूरी की है। इस तरह यह रामोपासना और भक्ति-भावना आपसमें जुड़ जाती है। इसके बीचकी मालाकी मणियाँ रामकिंकर-सम्प्रदायकी ही हो सकती हैं।

तुलसीदासजी और समर्थगुरु रामदासकी ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक पूर्वपीठिकाको ध्यानमें रखकर हनुमत्-पूजाको जानना अत्यन्त आवश्यक है। 'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत'के कथनमें हनुमान्की उपासनासे सारे विश्वकी पूजा और भारतभरकी पूजाका संकेत मिलता है। समर्थ गुरु रामदासका अर्थ ही हनुमान्का सगुण साकार रूप होता है। रामलीलामें यह भक्ति-

भावना, दास्य-भक्तिका प्रचार और प्रसार भारतभरमें पाती रही है। तुलसीदासजीके कालमें जो राजनीतिक उथल-पुथल हुई, उसे तुलसीदासजीने मुखरित किया और जो भव-रोगसे पीड़ित जनता थी, उसकी दुखती हुई नसपर हाथ रखकर रामदास्य-भक्तिकी अमोघ ओषधि भी प्रदान की। समर्थकालीन युगमें समर्थ गुरु रामदासने गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक और मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामके स्वरूपको अपनी समर्थरामभक्तिसे छत्रपति शिवाजीमें साकार किया। यह उसी रामवरदायिनी भक्तिकी साधनाका फल था, जिसे तुलसीदासजीने प्रारम्भ किया था। धर्म-संस्थाको स्थापित करना और दुर्जनताको हटाना दोनों ही रामभक्तोंका ध्येय था। व्यक्ति और समाजके सम्बन्ध रामभक्तिके राजमार्गपर चलनेसे ही जुड़ सके हैं, इसका प्रमाण **'उदंड जाहले पाणी स्नान संध्या करावयास'** की उक्तिसे दिया जा सकता है। धर्म—नीति, समाज-नीति और राजनीतिका समन्वय करानेका प्रयत्न तुलसीदास और समर्थ गुरु—दोनोंने ही किया। रामभक्ति जितनी मनोवैज्ञानिक थी, उतनी ही सामाजिक और दार्शनिक भी रही है। इसके द्वारा जो अपने-अपने युगोंमें प्रदेय प्राप्त हुए हैं, उसे हिंदूसमाज कभी भूल न सकेगा।

गोस्वामी तुलसीदास और समर्थ गुरु रामदासकी भक्ति-भावनाकी मूल प्रेरणाएँ समान ही मानी जा सकती हैं। तुलसीदासजीने **'नानापुराणनिगमागम'** तथा **'क्वचिदन्यतोऽपि'**की बात कही है। उन्होंने किसी ग्रन्थविशेषका नाम लेकर उल्लेख नहीं किया। उनकी दीक्षा किस सम्प्रदायमें हुई, इसका भी उल्लेख कहीं नहीं मिलता। इसीलिये कोई उन्हें अद्वैतवादी तो कोई विशिष्टाद्वैतवादी मानते हैं। किंतु समर्थके गुरु और सम्प्रदायके सम्बन्धमें स्पष्ट उल्लेख मिलता है। उन्होंने तत्कालीन 'वारकरी सम्प्रदाय' और भिन्न-भिन्न मत-मतान्तरोंके आधारपर अपने नामपर ही 'रामदासी सम्प्रदाय' चलाया। वे अपना गुरु स्वयं भगवान् रामचन्द्रको ही मानते हैं—**'ऋषि बोलिला तेचि है सार ध्यावे'** के आधारपर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका लक्ष्य आदिकवि वाल्मीकिकी ओर ही रहा होगा। फिर भी समर्थने रामायणके सुन्दरकाण्ड और युद्धकाण्डका अनुवाद नहीं किया है और उनका दासबोधका कलिवर्णन बहुधा रामचरितके उत्तरकाण्डके वर्णनसे मिल जाता है। संत एकनाथका रामायण 'वाल्मीकि-रामायण'का भावानुवाद है और उसपर 'अध्यात्मरामायण'का भी प्रभाव है। तुलसीदासके रामायणपर भी वही प्रभाव देखा जा सकता है। समर्थने 'भावार्थ रामायण'का पारायण किया था, इसमें शङ्का नहीं। संत एकनाथको महाराष्ट्रमें रामभक्तिका आद्य प्रचारक माना जा सकता है।

आचार्य पं० विनयमोहनजी शर्माका कहना है कि संत एकनाथको ही महाराष्ट्रमें रामभक्तिका प्रथम प्रचारक माना जाना चाहिये और उनका रामायण तुलसीदासजीके 'मानस'से अनुप्राणित कहा जा सकता है। एकनाथजी तुलसीदासजीके समकालीन थे। वे तीन बार काशी भी गये थे। बहुत सम्भव है कि वे तुलसीदासजीसे मिले भी हों। मराठीके कुछ विद्वान् इसकी सम्भावना मानते हैं। समर्थ गुरु रामदासको संत 'एकनाथके भावार्थ-रामायण'से निःसंदेह प्रेरणा मिली है। इस प्रकार संत एकनाथजीके माध्यमसे तुलसीदासजीकी रामभक्ति समर्थ गुरु रामदासकी रामभक्तिसे जुड़ जाती है। दोनों ही रामभक्तोंने आध्यात्मिक एवं नैतिक उद्देश्यसे रामभक्ति की। भौतिक उद्देश्यका कारण तत्कालीन समाज था। फिर भी दोनों रामभक्तोंकी उपासना आधि-भौतिक, आधि-दैविक और आध्यात्मिक तीनों स्वरूपोंमें मिलती है। भक्तिके मूलस्रोत दोनों ही संतोंके समान थे। दोनोंकी रामभक्तिमें, हनुमत्-उपासनामें तथा मन्त्रोंमें बहुत कुछ समानता है।

त्रयोदशाक्षरी मन्त्रका जप दोनों ही संतोंने किया है।

दोनों ही भक्तोंने अपने आदर्श भक्तके रूपमें श्रीहनुमान्‌जीकी विशेषताओं और उनके उपास्य-उपासक रूप एवं उनके लोकरक्षक और दुर्जन-संहारक रूपकी मीमांसा की है। तुलसीदासजीने काशीमें बारह श्रीहनुमान्-मन्दिरोंकी स्थापना की। उनके सभी हनुमान् दक्षिणकी ओर मुख किये हैं। समर्थने ग्यारह हनुमान्-मन्दिरोंकी स्थापना की। उनके सभी हनुमानोंकी मूर्तिके पैरोंतले राक्षस रौंदनेकी कल्पना है। तात्पर्य यह कि दोनों ही संतोंद्वारा प्रस्थापित मूर्तियोंका उद्देश्य एक ही रहा होगा, दोनों ही राक्षसी-वृत्तियोंके नाशके समर्थक थे। गोस्वामी तुलसीदासके हनुमान् जहाँ एक ओर वीर वपुधारी हैं, वहाँ दूसरी ओर सेवक और सेव्य-भावसे उन्मुख सेवक स्वरूप भी हैं। समर्थगुरु रामदासद्वारा प्रस्थापित हनुमान् भी दो प्रकारके हैं—एक रौद्र—संहारक रूप और दूसरे राक्षस-मर्दक रूपधारी। शिवका अवतार होनेके कारण नाना प्रकारके रूप धारण करनेकी सिद्धि भी हनुमान्‌जीको प्राप्त थी। इसीलिये वे उपासकसे उपास्य बन गये।

सगुण भक्ति आचार पक्षको कर्तव्यके माध्यमसे कार्यरत करती है। वही भगवान्‌के अधिष्ठानसे उसे लोकधर्मकी ओर बढ़ानेके लिये भी उद्यत कराती है। परिणामतः व्यक्ति और समाजके सम्बन्ध सुस्थिर हो जाते हैं तथा आत्मबल, आत्मविश्वास-जैसे साधन कोई भी कार्य करनेके लिये उपलब्ध हो जाते हैं। इसीलिये सम्भवतः तुलसीदासजीको कहना पड़ा था कि 'निर्गुन रूप सुलभ अति, सगुन न जानइ कोइ'। हृदयसे निर्गुणको आँकना और नेत्रोंसे सगुणको देखना इसीमें इन दोनों संतोंका विश्वास था। इसीलिये दोनों भक्तोंने सगुणोपासना ग्रहण की।

गोस्वामी तुलसीदासजीने ही 'रामकिंकर' सम्प्रदाय चलाया था, ऐसी आचार्य पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्रजीकी धारणा रही है। इसीलिये शिष्य-परम्परा, पूजा-पद्धति, आराध्यदेव-मन्त्र, मठ-स्थापना तथा दैनिक कार्यक्रमोंकी चर्चा आदि बातोंपर विचार करना आवश्यक हो जाता है। समर्थ गुरु रामदासने तत्कालीन 'वारकरी-सम्प्रदाय'से भिन्न अपने नामपर 'रामदासी सम्प्रदाय' चलाया, जो सही अर्थोंमें रामकिंकर सम्प्रदाय ही कहा जा सकता है। उनकी शिष्य-परम्परा, मन्त्र, पूजा-पद्धति, मठ-स्थापना आदि अब भी हम महाराष्ट्रमें देख सकते हैं। परंतु तुलसीदासजीको साम्प्रदायिक कहनेमें बड़े ही साहस और धैर्यकी आवश्यकता है। अभीतक मुझे तुलसीदासके तीन प्रत्यक्ष शिष्य मिले हैं। प्रत्यक्ष शिष्य रामू द्विवेदी स्पष्ट लिखते हैं—

न्यक्षिपन्मारुतिः सिन्धौ पर्वतान् गर्ववर्जितः।
तदेव तुलसीदासरूपिणा वायुसूनुना॥

तथा—

वन्देऽहं तुलसीदासं निवासं जानकीपतेः।
यत्प्रसादेन रामूको मूकोऽपि कवितां गतः॥

इन्हीं पदोंके आधारपर रामू द्विवेदीको गोस्वामीजीका शिष्य माना जा सकता है। दूसरे शिष्य हैं संत-जनजसवंत, जो तुलसीदासजीके ही समयमें महाराष्ट्रमें थे। वे भी स्पष्ट कहते हैं—

मोर मुकुट नीचे धरो (और), किरिटि मुकुट धरो सीस।
धनुष बान करमो धरो (गुरु), तुलसी नमावत सीस॥

आचार्य पं० श्रीविनयमोहनजी शर्माने इनके विषयमें विशेष जानकारी अपनी पुस्तक 'हिंदीको मराठी संतोंकी देन'में दी है। तीसरे शिष्य पंजाब (हिसार)के श्रीआनन्दरामजी हैं। इस प्रकार उनकी शिष्य-परम्पराका एक 'त्रिकोणात्मकरूप' तैयार होता है। स्पष्ट है कि तुलसीदासजी अपनी शिष्य-परम्पराका विस्तार करनेके पक्षमें नहीं

थे। उन्होंने कोई आचारसंहिता भी निर्मित नहीं की थी तथा मठ इत्यादिकी स्थापनापर भी उनका बल नहीं था। पूजा-पद्धतिमें मूर्तिपूजाका मण्डन दोनों ही संतोंने किया है। दोनोंके ही राममन्त्र समान थे। बाह्य आडम्बरको छोड़ दिया जाय तो दोनोंकी पूजापद्धतिमें कोई भेद नहीं दीखता। हनुमान्‌जीके रक्षक और उपासक स्वरूपकी उपासना दोनों ही संतोंने की है। इस प्रकार दोनों ही भक्तोंको 'रामकिंकर-सम्प्रदाय'से जोड़नेमें कोई हिचक नहीं होनी चाहिये। तुलसीदास-जीकी विचारधारासे समर्थ गुरु रामदासजी, संत जन-जसवंत और संत एकनाथ भी जोड़े जा सकते हैं।

तुलसीदास और समर्थ गुरु रामदासने हिंदूसमाज और भारतवासियोंके लिये सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक आदर्श उपस्थित किये हैं। इनको समझनेसे राजनीतिक और सामाजिक आत्मकल्याण और लोक-कल्याणकी सीख प्राप्त हो सकती है। स्वधर्माचरण, अन्यायोंके प्रति जूझनेका संकल्प, न्यायमें पूर्ण विश्वास और ऐसे ही कई विषय हैं—जो राष्ट्रिय एकताके प्रस्थापित करनेमें सहायक हो सकते हैं। इन दोनों ही भक्तोंने अपने प्रदेयोंके माध्यमसे जो बातें कही हैं, उनको ग्रहण करना ही पड़ेगा, तभी समाज और मानवका कल्याण होगा।

इस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास और समर्थ गुरु रामदासकी भक्तिभावना समान होकर भी अपनी जगह-पर अपना अलग-अलग महत्त्व रखती है। दोनों ही संतोंके आराध्यदेव, मन्त्र, हनुमत्-उपासना, दार्शनिक धारणाएँ तथा उपदेश समान होते हुए भी अपना अलग-अलग महत्त्व रखते हैं। दोनोंकी साधना भी समन्वय-वादिनी थी (यद्यपि समर्थ व्यावहारिक ज्यादा थे) और दोनों ही संतोंने—**'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत'** की भावनासे सारे स्थावर-जङ्गमात्मक विश्वको देखा।

समर्थ स्वामी रामदासजी महाराजका बोध

ब्रह्म निराकार है। वह आकाशकी तरह है। परंतु उसमें विकार नहीं है—वह निर्विकार है। ब्रह्म निश्चल है और अन्तरात्मा चञ्चल है। द्रष्टा और साक्षी अन्तरात्माको ही कहते हैं, उसीको ईश्वर कहना चाहिये। उसका स्वभाव चञ्चल है। वह सब जीवोंमें रहकर उनका पालन करता है। उसके बिना पदार्थ जड़ हैं, देह व्यर्थ है। उसीसे परमार्थ इत्यादि सब कुछ मालूम होता है। कर्ममार्ग, उपासनामार्ग, ज्ञानमार्ग, सिद्धान्तमार्ग, प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग ईश्वर ही चलाता है। चञ्चल (अन्तरात्मा) के बिना निश्चल (परब्रह्म) मालूम नहीं होता और चञ्चल स्थिर नहीं रहता—इस प्रकारके ये अनेक विचार अच्छी तरह देखो। चञ्चल (अन्तरात्मा) और निश्चल (परब्रह्म) की सन्धि (माया) में बुद्धि चकराती है। कर्ममार्ग इत्यादि उस सन्धि (माया) के अनन्तर प्रकट हुए हैं। उन सबका मूल 'ईश्वर' (अन्तरात्मा) है, परंतु ईश्वरका न मूल है और न डाल है। परब्रह्म निश्चल और निर्विकारी है।

—दासबोध

शाश्वत शान्तिका मार्ग

(लेखक—प्राचार्य श्रीजयनारायणजी 'मल्लिक' एम्० ए०, साहित्याचार्य, साहित्यालंकार)

आजका मानव-जीवन अशान्त है। अनवरत संघर्षके बीच वह कुछ टटोल-सा रहा है—वह शाश्वत शान्ति चाहता है। पर यह शान्ति मिलेगी कैसे? पाश्चात्य संसार एक ओर तो विज्ञानके द्वारा प्रकृतिपर विजय प्राप्त करना चाहता है और दूसरी ओर भोग-वासनाकी चकाचौंधमें आनन्द-प्राप्तिका व्यर्थ प्रयास भी कर रहा है। जीवनमें वैषम्य इतना बढ़ गया है कि इसकी प्रतिक्रियाके रूपमें साम्यवाद कभी-कभी झाँकी दे जाता है। प्राच्य-जगत्‌की दशा भी संतोषप्रद नहीं। यहाँ भी विद्या विवाद-के लिये, धन अभिमानके लिये और शक्ति दूसरोंको पीड़ा पहुँचानेके लिये एकत्र की जाती है। विद्वान्‌को हठी नहीं होना चाहिये। विद्या तो एक प्रकाश है, उसकी सहायता-से सत्यका अन्वेषण करना चाहिये। जिसके हाथमें विद्यारूप दीपक है, वही यदि दूसरोंको पथ-भ्रष्ट करे, सच्चा मार्ग न दिखलाये तो वह विद्याका दुरुपयोग ही होगा। एक मूर्ख यदि भूल करता है तो वह केवल अपने-आप नष्ट होता है, उससे राष्ट्रकी विशेष क्षति नहीं होती, किंतु यदि एक विद्वान् भूल करता है तो वह अपने साथ बहुतोंको डुबो देता है; क्योंकि उसके अनुयायी अनगिनत रहते हैं। विद्वानोंकी निःस्वार्थ भावसे मानवताकी सेवा और सत्यका अन्वेषण करना चाहिये। मानव-जीवनका लक्ष्य है—दुःखकी निवृत्ति और सुखकी प्राप्ति, पर यह हो कैसे? असंख्य दार्शनिक, वैज्ञानिक, राजनीतिज्ञ, कवि और कलाकार आये और मानवताके पदपर दीपक जलाकर चले गये। असंख्य दीपोंकी चकाचौंधमें दुर्बल, त्रस्त मानवता किंकर्तव्यविमूढ़ हो गयी। वह क्या करे? किधर जाय? भिन्न-भिन्न दीप भिन्न-भिन्न मार्गोंकी ओर संकेत कर रहे हैं। स्मृतियोंमें, दर्शनोंमें, पुराणोंमें भिन्न-भिन्न उपायोंकी झलक है। मानवता किस निश्चित पथका अवलम्बन करे?

श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई। छुटइ न अधिक अधिक अरुझाई॥
(मानस ७।११६।३)

मानव-जीवनमें दुःखकी समस्याका समाधान करनेके लिये असंख्य महामानव इस भूतलपर अवतीर्ण हुए और उन्होंने जीवनको सुखी, समुन्नत और परिष्कृत बनानेकी भरपूर चेष्टा की। सृष्टिके आरम्भमें ही लोगोंने देखा कि जीवनकी सबसे बड़ी यातना मृत्यु है, अतः जीवनको सुखी बनानेके लिये मृत्युपर विजय प्राप्त करना आवश्यक है। विद्वान् लोग अमरत्वके अन्वेषणमें लग गये। भवसागर अथवा त्रिगुणात्मिका प्रकृतिका मन्थन हुआ। इस विराट् विश्वमें विषके रूपमें तम, मदिराके रूपमें रज तथा अमृतके रूपमें सत्त्व दृष्टिगोचर हुआ। भव-सागरके मन्थनसे अनेक रत्न निकले। अमृतका घड़ा भी निकला। भौतिकवादी और अध्यात्मवादी दोनोंके सहयोगसे अमृतका पता लगाया गया। दोनोंके दो दृष्टिकोण थे। एक अपने इसी भौतिक शरीरको अमर करना चाहते थे, दूसरेने देखा कि प्राणी जड और चेतन—दोनोंका समन्वय है। जड तो विकारी और परिणामवादी है। प्रत्येक क्षण वह बदलता रहता है, उसके रूपमें आमूल परिवर्तनका ही नाम तो मृत्यु है। चेतनको जडके सम्पर्कसे सर्वथा अलग कर देना ही तो अमरत्वकी प्राप्ति है। प्रथम दलने स्थूल शरीरको दीर्घायु रखनेकी भरपूर चेष्टा की। उसने देखा कि लोग शरीरके भिन्न-भिन्न अवयवोंके जीर्ण होनेसे, समुचित भोजन और व्यायाम नहीं मिलनेसे, रोग-कीटाणुओंके आक्रमणसे शरीर-यन्त्र बिगड़ जाता है और प्राणी मर

जाता है। रसायनशास्त्रने रसोंका, आयुर्वेदने ओषधियोंका और हठयोगने आसनों एवं व्यायामोंका आविष्कार किया, जिनसे मनुष्य सैकड़ों वर्षोंतक जी सकते थे तथा अपने रूप और यौवनको अक्षुण्ण रख सकते थे। सोमरसके सेवनसे वृद्धोंमें भी कान्ति और यौवन आ जाते थे। प्राणायाम और ब्रह्मचर्यसे शरीरके विकासमें पर्याप्त सहायता मिलती थी।

आज हमारी संस्कृतिपर पाश्चात्य देशका एक धूमिल वातावरण छा गया है। यवनिकाके उस पारमें स्वार्थ और भोग-लिप्साका विशाल नर्तन है। दुनिया भोग-लालसाके शिखरपर चढ़नेके लिये तेजीसे दौड़ रही है। विज्ञान नये-नये चमत्कार दिखा रहा है। राजनीति और अर्थशास्त्र भौतिक तथा सामाजिक जीवनका विश्लेषण कर रहे हैं। भोग-लालसाके शिखरपर जब वासना जोरोंसे चीत्कार करेगी—'मुझे नवीन भोजन दो, मैं संसारके सारे भौतिक पदार्थोंका रस चख चुकी, वे अब फीके पड़ गये।', तब मानवता सोचेगी—'ततः किम्?' तब वह सँभलेगी और अनुभव करेगी कि वह अनुचित मार्गपर थी। जीवनमें त्याग और तपस्या एवं स्नेह और बलिदानकी जितनी बड़ी आवश्यकता है, उतनी भोग-वासनाकी नहीं। सावन-भादोकी अँधेरी रातोंमें काले-काले बादल उमड़-घुमड़कर कुछ कालके लिये भले ही आकाशको आच्छन्न कर लें, पर इससे सूर्यका लोप नहीं हो जाता। शीघ्र ही प्राचीके प्राङ्गणमें ऊषा देवी अरुण-राग-रञ्जित नवीन परिधान धारणकर हेमकुम्भ ले इस शिथिल भूतलपर अमृतकी धारा उड़ेल देती है। मानवता जब भोग-वासनाकी ओर झुक जाती है, तब उसका नाम हो जाता है—'पशुता' और मानवता जब उलट जाती है, तब उसका नाम हो जाता है—'दानवता'। पशुता मानवताकी कमजोरी है और दानवता मानवताकी मौत। मानवताके अन्तर्गत जो पशुता घुस गयी है, वह उसे ऊपर उठने नहीं देती, उल्टे उसे भोग-वासनाकी ओर घसीटती है। हमें इस पशुताका परित्याग करना है। मानव-हृदयमें सदैव देवासुर-संग्राम होता रहता है। देवता मनुष्यको निम्नस्तरसे उच्चस्तरपर ले जाना चाहते हैं, असुर मनुष्यको पाप, हिंसा और असत्यकी ओर घसीटते हैं। धीर पुरुष प्रयत्न करके देवपक्षके श्रेयकी ओर चला करते हैं और अधीर प्रेयमें ही पड़े रहते हैं—

श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते
प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥
(कठोप० १।२।२)

जाग्रत्की मुहर

एक बार इब्राहिम अहमद नामक संतने किसीसे पूछा था कि 'तुम्हें स्वप्नका पैसा अधिक प्रिय है या जाग्रत्की मुहर?' उसने कहा—'मुझे तो जाग्रत्की मुहर ही अधिक प्रिय है। इसपर इब्राहिम कहने लगे कि तुम्हारा कथन मिथ्या है; क्योंकि यह माया तो स्वप्नका पैसा है और परलोकका सुख जाग्रत्की मुहर है। किंतु तुम्हारी प्रीति तो मायामें अधिक है। —पारसमणि

ईश्वर-विश्वास

(लेखक—पं० श्रीलक्ष्मणप्रसादजी शास्त्री, साहित्यरत्न)

प्रेम जब शारीरिक क्षेत्रसे ऊपर आत्मिक क्षेत्रमें आ जाता है तो उसे श्रद्धा कहते हैं। तर्कसे या बुद्धिसे जब हम ईश्वरकी अनन्त शक्तियोंकी थाह नहीं ले पाते तो अपने मापक यन्त्रको समुद्रमें फेंक देते हैं, लहरोंमें अपनी नावको छोड़ देते हैं; हवाका रुख अपनी इच्छासे जिधर चाहे ले जाता है, तब हम अनुभव करते हैं कि हम व्यर्थ ही इन लहरोंसे लड़ रहे थे। ये लहरें हमें झुलाती हैं—कभी ऊपर, कभी नीचे। हिलोरोंमें जो आनन्द हमें आता है, वही जीवनका आनन्द है। तब हमें याद आता है कि समुद्रकी छाती चीरकर पार जानेका हम व्यर्थ ही प्रयत्न कर रहे थे।

श्रद्धामय जीवन व्यतीत करनेवालेपर अप्रतिष्ठित तर्कके झकोरे व्यर्थ हो जाते हैं। जिस नावकी पतवार ईश्वरके हाथमें हो, उसे किसका भय ? ईश्वर उसकी नावको स्वयं पार करता है। भय तो उसको होता है, जो अपने कमजोर हाथोंपर भरोसा रखता है। सर्वशक्तिमानका आँचल पकड़ते ही मनुष्य निर्भय हो जाता है। उसके स्पर्शसे ही मनुष्यमें अजेय बल आ जाता है। उसके व्यक्तित्वमें ईश्वरका प्रकाश भर जाता है। उसका चरित्र सब दिव्य गुणोंसे पूर्ण हो जाता है। इसलिये चरित्र-निर्माणकी कोई भी योजना ईश्वर-विश्वासके बिना पूरी नहीं हो सकती। एक ओर दुनियाकी सारी शक्तियाँ हों और दूसरी ओर ईश्वरकी कृपा हो तो दूसरा पक्ष ही विजयी होगा।

भगवान् कृष्णके पास कौरव और पाण्डव जब एक साथ ही पहुँचे तो भगवान्ने उन दोनोंके सामने यह विकल्प रखा कि एक पक्षमें उनकी समस्त शस्त्रसज्जित सेना होगी, दूसरे पक्षमें वे निःशस्त्र रहेंगे। दुर्योधनने उनकी शस्त्र-सज्जित सेनाको लेना पसन्द किया, अकेले कृष्ण पाण्डवोंके पक्षमें आये। इतिहास साक्षी है कि दुर्योधनने भूल की थी। अकेले भगवान् अपनी समस्त सेनासे अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुए। बिना लड़े केवल अर्जुनके रथके सारथी बनकर ही उन्होंने पाण्डवोंको विजयी बना दिया।

'दुर्योधनने भूल की थी।' आज हम सब यही कहते हैं, किंतु हम भी अपने जीवनमें पग-पगपर यही भूल करते रहते हैं। ईश्वरकी उपेक्षा करके हम संसारी शक्तियोंके सैन्य-बलपर जीवनमें विजय पाना चाहते हैं, किंतु विजय उन्हींको मिलती है, जो सबको छोड़ केवल ईश्वरको अपने रथका सारथी बनाते हैं।

जो विराट् ईश्वर विश्वके असीम-अनन्त आकाशमें भी पूरा नहीं समा पाता, उससे भी बड़ा है, वही हमारे अङ्गुष्ठ-मात्र हृदयमें सिमट कर बैठा है।

वह अपनी इच्छासे हमारे अन्तःकरणमें आत्मरूप होकर प्रविष्ट हुआ है। वही हमारे हृदयकी ज्योति है; फिर भी हम उसको अपने पक्षमें न लेकर संसारी उपकरणोंपर भरोसा करने लगते हैं। यह भूल हमें जीवनमें परास्त कर देती है। कदम-कदमपर हम ठोकरें खाते हैं। छोटी-छोटी सफलता हमारे मनको झकझोर डालती है। अपने मनसे हम हवाई किले बनाते हैं। स्वप्नोंका ताना-बाना बुनते हैं। कल्पनाके पंखोंपर बैठकर दुनियाके ओर-छोरको छूनेके लिये उड़ान भरते हैं; किंतु कल्पनाओंका यह कुहरा जीवनकी सचाइयोंके प्रकाशमें बहुत जल्दी छिन्न-भिन्न हो जाता

है। स्वप्नोंका ताना-बाना हवाके एक ही झोंकेमें टूट जाता है। कारण, हम अपने स्वप्नों और अपनी कल्पनाओंका महल बनानेसे पहले इन स्वप्नोंके मालिकका आशीर्वाद लेना भूल जाते हैं। संसारी शक्तियोंके भरोसे अपना महल खड़ा करनेका निश्चय करते हैं, किंतु उन शक्तियोंके स्वामीकी चरण-धूलि लेना भूल जाते हैं।

भगवान्‌ने अर्जुनको आदेश दिया था—'तू मेरा नाम लेकर युद्धमें जूझ जा'; यही आदेश ईश्वरका वह आदेश है, जो वह मनुष्य-मात्रको देता है—'मामनुस्मर युद्ध्य च।' ईश्वरका नाम लेकर जीवन-युद्धमें जूझनेवालोंको कभी निराशा नहीं होती, हार नहीं होती। सुख-दुःख, लाभालाभ, जय-पराजय सबके लिये उनका ईश्वर ही जिम्मेदार होता है। इस युद्धके पाप-पुण्यमें भी वे लिप्त नहीं होते; न वे सुखमें फूलकर कुप्पा होते हैं और न ही दुःखमें डूबकर निश्चेष्ट हो जाते हैं। उनकी हर साँससे यह आवाज निकलती है, 'ईश्वर! तेरी इच्छा पूर्ण हो।'

आदर्श दम्पतिकी अतिथि-सेवा

साधनाका विकसितरूप भक्ति है। भक्ति 'सेवा'से बोधित अन्तःकरणकी भावना है। वह अपने-आपमें तुष्टि है, तृप्ति है। उसमें विनिमयकी, वेतनकी कोई बात नहीं। इसी संतृप्तिकी प्राप्तिके लिये जो साधक उपासना करते हैं, वही भक्त कहलाते हैं तथा उनका अलोक-साधारण चरित्र होता है—गाथा। यहाँ एक ऐसे ही भक्तकी गाथा दी जा रही है, जिन्होंने भिक्षावृत्तिसे अतिथि-सेवा कर सिद्धि पायी थी।

दामोदर एक गरीब ब्राह्मण थे। वे काञ्ची नगरीमें रहते थे। एक साधारण झोपड़ी उनकी कुटिया थी। उनकी पत्नी बड़ी साध्वी और सुशीला थी। ब्राह्मण दम्पति अपने कर्म-धर्ममें लगे रहते थे। दामोदर प्रतिदिन संध्या-वन्दन करते और मस्तकपर तिलक तथा निर्माल्य तुलसीदल धारण कर भिक्षाटनके लिये निकल पड़ते थे। वे 'राम-कृष्ण-हरि'की ध्वनि (कीर्तन) लगाते एक घरसे दूसरे घर घूमते हुए दिन बिता देते थे। बेचारे ब्राह्मणको जो कुछ मिल जाता था, उसीसे दोनों प्राणियोंका योग-क्षेम चलता था। उन्हें कोई संतान भी नहीं थी।

× × ×

शुद्ध भिक्षा-वृत्ति भी आदर्श होती है। पापी पेटकी भरतीके लिये और अन्यान्य सांसारिक सुख-लिप्साके लिये किये जानेवाले ऊँच-नीच कामोंसे कहीं भली सात्त्विक भीख होती है, जिससे आत्माका निखार और परमात्माका साक्षात्कार होता है। दामोदरकी भीख ऐसी ही थी। दामोदरका जीवन निखार पाता गया। वे भगवान्‌की भक्तिमें अग्रसर होते गये। उनकी भक्ति भाव-भक्ति थी। वे जो कुछ भिक्षार्जन करते, उससे भगवान्‌का अर्चन करते थे। भिक्षासे मिली सामग्रीसे भोजन बनता और भगवान्‌को अर्पित कर प्रसादरूपमें ग्रहण होता था। दोनों प्राणी भगवान्‌की भक्ति-भावसे ओत-प्रोत थे और प्रसन्न रहते थे। वे जानते थे कि दीनता भगवान्‌की प्राप्तिके लिये होती है, ग्लानि और पश्चात्तापके लिये नहीं। सुदामाकी भाव-भक्ति दामोदरके लिये आदर्श थी और उनकी पत्नीकी घर-गृहस्थी दामोदरकी पत्नीकी स्पृहाके लिये वाञ्छनीय आधार-भूमिका। उनके घर यदि कोई अतिथि आ-पहुँचता तो उसकी आवभगत, स्वागत-सत्कार कर वे दोनों संतुष्ट हो जाते और अपनेको धन्य मानते थे। उनके यहाँ मनु-निर्दिष्ट—'तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता'

—अर्थात् आसन, स्थान, जल और मीठी वाणीका कभी किसी अतिथिके लिये अभाव न था। सज्जनोंके यहाँ ये वस्तुएँ निश्चय ही सुलभ रहती हैं—'एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन'। (मनु० ३। १)

कभी ऐसा भी होता था कि भोजनका अन्न अतिथि-सत्कारमें ही समाप्त हो जाता था। ऐसे दिन दोनों प्राणी प्रसन्नतापूर्वक उपवास कर लेते थे। ठीक ही है, जो दूसरोंके लिये किया जाता है, वही अपना होता है। इसी संतोषसे वे उपवास भी परम प्रसन्नतासे कर लेते थे। मनकी यह उदात्तता उनकी विशेषता थी।

दामोदर-दम्पति दिन-रात भगवान्के भजन-कीर्तनमें लगे रहते। दोनों प्राणियोंका सात्त्विक जीवन था—कोई झंझट न झमेला। न किसीकी चर्चा, न किसीकी निन्दा, न किसीको उद्विग्न करना था, न किसीसे उद्विग्न होना था। वे हर्ष, अमर्ष, भय, उद्वेगसे रहित थे। भला वे गोविन्दके प्रिय क्यों न होते। फिर भी भक्तिकी सेवा थीं, विना वेतन, विना वृत्ति। तो भला वे भगवान्से भी क्यों माँगने लगे—भले ही घरमें खर्ची न हो। वे 'भूखे भजन न होइ गोपाला'से ऊपर उठ चुके थे। उन्हें संतोंकी यह भक्ति ही प्रिय थी कि—

प्रीति राम सों नीति पथ, चलिय राग रिस जीति।
तुलसी संतन के मते, यही भगति की रीति॥
(दोहावली ८६)

उन्हें गोविन्द प्रिय थे और वे गोविन्दके प्रिय थे। यही कारण था कि वे जीव-दयासे अभिभूत रहा करते थे। यदि कभी वे भगवान्से कुछ जाँचते थे तो केवल जीवोंका कल्याण, प्राणियोंकी भलाई। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि—

'परदुख द्रवै सुसंत पुनीता'

भजन-भावमें विभोर होकर जब वे भगवद्-दर्शनकी भावनामें आ जाते थे तो जगत्के जीवोंके लिये हाथ जोड़कर प्रार्थना करते—'मङ्गलमय प्रभो! ये भूले-भटके जगज्जीव तुम्हारी मङ्गलमयी मूर्तिका दर्शन नहीं कर सके हैं। इन्हें अपनी आनन्द-मन्दाकिनीकी निर्मल शीतल धारासे नहलाकर इनके हृदयोंको सींच दो, वहाँ तुम्हारी कल्याणमयी मूर्ति विराजती रहे—

सुनु अदभ्र करुना बारिजलोचन मोचन भय भारी।
तुलसिदास प्रभु! तव प्रकास बिनु, संसय टरै न टारी॥
(विनयप० ११३)

भक्त दामोदरकी चर्चा धीरे-धीरे बढ़ने लगी और दूर-दूरतक फैल गयी। भला कस्तूरीकी गंध कहीं छिपी रह सकती है? फिर उनके लिये, जो इसी रसके रसिक और अन्वेषक हैं? सहसा एक दिन काञ्चीनगरमें एक बूढ़े संन्यासी दिखलायी पड़े। जीर्ण-शीर्ण शरीर जरठ संन्यासी—ये तो कभी दिखलायी नहीं पड़े थे! इनका यहाँ आनेका उद्देश्य क्या है?—कौन कह सकता था। वे लकुटीके सहारे धीरे-धीरे उस कुटीपर आ-पहुँचे, जो भाव-भक्त दामोदरकी भक्तिमन्दिर थी।

कुटियाके अन्दर दोनों प्राणी—दामोदर और उनकी धर्मशीला पत्नी—चर्चा कर रहे थे। आज भीखमें एक मुट्ठी चावल भी न मिला था। पतिदेव खाली हाथ लौटे थे। दोनों भूखे थे। जमीनपर लेटकर 'चिन्तामणि'-के चारु चरणोंका चिन्तन छोड़कर उनकी चर्चाका विषय हो ही क्या सकता था? सांसारिक चिन्ताको मिटानेके लिये उससे बढ़कर महौषधि है ही क्या—

'तुलसी चित्त चिन्ता न मिटै बिनु चिन्तामनि पहिचाने।'

किंतु रह-रहकर एक सांसारिक चिन्ता छायाकी भाँति आ जाती थी—आज कहीं कोई अतिथि न आ जाय! धर्म कैसे निभेगा? 'जिसके गृहसे अतिथि असत्कृत होकर लौट जाता है, उसे वह अपना पाप दे जाता है और उसके पुण्यको लेकर चला जाता है।' यह किसी समझदार गृहस्थको भी वाञ्छनीय नहीं होता,

फिर भक्त-संतोंके लिये तो कहना ही क्या ? बेचारे दम्पति भगवान्से यह मना ही रहे थे कि ऐसा-योग न आने पाये, तबतक बाहरसे आवाज आयी—'नारायण !' नारायण ! नारायण ! अतिथि, बाहर खड़ा हूँ ।' बिना तिथिकी अतिथि-परीक्षा ! अब क्या हो ? दामोदर झटपट बाहर आये । देखा, एक शिथिलगात जरा-जीर्ण तेजोमय वृद्ध संन्यासी खड़े हैं । दामोदरने भक्तिभावसे उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम कर निवेदन किया—'स्वामिन् ! दासको क्या आदेश है ?'

संन्यासीने कहा—'तुम्हारी साधु-संतों, अतिथियों-की सेवाकी प्रसिद्धि दूर-दूरतक फैली है । तुम्हारी श्रद्धा-भक्तिकी बात सुनकर एक मुट्ठी अन्नके लिये आया हूँ । जीर्ण-शीर्ण शरीर है, चलने-फिरनेमें अशक्त-सा हो चला हूँ, पर तुम्हारे यहाँ आना पड़ा । बात यह है कि मैं श्रद्धाहीनका अन्न नहीं ग्रहण करता और श्रद्धावान्को खोजकर, माँगकर प्रीतिपूर्वक ग्रहण कर लेता हूँ । इसीलिये तुम्हें याद किया है, तुम्हारे अन्नके लिये जी ललच उठा ।

दामोदरदासको पैरोंके नीचेकी जमीन खिसकती प्रतीत हुई । उनके सामने कठिन प्रश्न खड़ा था—कड़ी परीक्षा थी !' क्या करें ? अतिथि, वह भी संन्यासी अतिथि, वृद्ध दूरसे आये हुए—दामोदरदासके अन्नके लिये लालायित, अब क्या हो ? विकट प्रश्न था और समाधानका, सामानका अत्यन्ताभाव ! भगवन् ! भगवन् !! गोविन्द !! इतनी कठोर परीक्षा ! दामोदरदासने सँभलकर यतिसे निवेदन किया—'महाराज ! आपको बहुत क्लान्त, थका देख रहा हूँ । आप इस कुशासनपर थोड़ी देर विश्राम करें, मैं अभी आता हूँ ।'

दामोदरने ब्राह्मणीसे धीरेसे कहा—'साध्वि ! अतिथि द्वारपर हैं । गृहस्थधर्मकी रक्षा कैसे हो ? अन्नका तो एक दाना भी नहीं है । अब क्या होगा ?' ब्राह्मणी असमञ्जसमें पड़ गयी । आज गृहलक्ष्मीके पास एक कपड़ा भी नहीं कि वह उसे बेचकर अतिथि-सत्कार-धर्मका पालन कर सके—आभूषणकी तो बात ही क्या ? भिक्षुकीको आभूषण कहाँ ? घर भी फूसकी कुटिया, अब क्या हो ? सती रो पड़ी । विवशते ! तेरा कठोर हृदय पत्थरका नहीं, वज्रका है । ऐसे भक्तोंको भी और धर्मके लिये रोना पड़े—यह विधिकी विडम्बना है कि भक्तिकी कठोर कसौटी ? फिर डबडबाई आँखोंसे कातरता बिखेरते हुए दामोदरने गोविन्दको उलाहना दिया—'इतनी कठोर परीक्षा क्यों ?'

ब्राह्मणीकी आन्तरिक कारुणिक पुकारमें एक क्षीण-सा प्रकाश मिला । उसे उपाय सूझ गया । वह पतिसे बोली—प्राणेश्वर ! आप चिन्ता न करें, अतिथि-सेवा अवश्य होगी । आप शीघ्र नाईके घरसे एक कैंची लायें । डूबतेको तिनकाका सहारा भी बड़ा लगता है । दामोदर दौड़े गये और नाईसे अनुनय-विनयकर कैंची माँग लाये । पत्नीको सौंपा और पूछा—'क्या उपाय है, अब बताओ ।' ब्राह्मणीने हँसकर कहा—'मेरे ये लम्बे सुन्दर बाल देखिये । इनकी चोटी बड़ी सुन्दर बनेगी, जिसे शृङ्गारप्रिय स्त्रियाँ पसन्द करती हैं । आप इन्हें काट दें और हम दोनों मिलकर इनसे वेणी बाँधनेकी डोरी बट दें । कुछ पैसे मिल जायँगे । अतिथि-सेवा हो जायगी । चिन्ता न करें ।'

परिस्थिति-परवश पुरुषको सती स्त्रियाँ जो ढाढ़स दिलाती हैं, यह उनके साहसका और सूझ-बूझका उत्तम पक्ष होता है । दाम्पत्यजीवनमें ऐसा प्रसङ्ग प्रायः आया ही करता है । भक्त दामोदरका धैर्य बँधा । धैर्य स्वयं धर्म है । मनुने उसे दस धर्मोंमें प्रथम स्थान दिया है—**'धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयम्'** और जब धर्मकी रक्षा होती है तो वह रक्षित धर्म रक्षककी रक्षा करता है—**'धर्मो रक्षति रक्षितः'** (मनुस्मृति ८ । १५)

त्यागशील पत्नीकी सूझ-बूझ पतिके संतोष और अतिथि-सत्कारका साधन बनी। केश काटे गये और उनकी डोरी बटी गयी। भक्त दामोदरने उसको बेंचकर अतिथि-सत्कारकी आवश्यक सामग्री—चावल, दाल, शाक, घी-दूध, दही—सब जुटाकर पत्नीके सामने प्रसन्नतासे रख दिया। ब्राह्मणी भोजन-कलामें बड़ी दक्ष थी। स्त्रियोंकी कला भोजनमें स्तुत्य होती है। यदि स्त्री पाक-कला जानती है तो वह अन्नपूर्णा है। स्त्रियोंका भोजन बनाना कर्तव्य ही नहीं, अधिकार भी है। इसके सुफल उन्हें सुपुष्ट, सुन्दर पुत्ररूपमें मिलते हैं। हाँ, तो भक्त दामोदरकी आदर्श गृहिणीने तृप्ति, तुष्टि और पुष्टिकारक भोजन बनाकर पतिदेवको सूचित किया—अब अतिथि देवको भोजन करा दिया जाय।

भक्त दामोदरने बड़ी नम्रता और भक्तिसे यतिसे निवेदन किया—स्वामिन्! कुछ प्रसाद पा लें। यति-अतिथि भीतर गये। दोनों प्राणियोंने प्रेमसे उनके पैर पखारे, चरणोदक लिया और उसे शिर चढ़ाया। जिस यतिका चरणोदक ब्रह्मा भी नहीं पाते, उससे ब्राह्मण-दम्पति आज कृतकृत्य हो गये। हाँ, वे यह नहीं समझ रहे थे कि—'देव' अतिथि हैं—वे यही समझते थे कि 'अतिथि' देव होते हैं। उन्हें 'अतिथिदेवो भव'के लोक-प्रसिद्ध अर्थपर आस्था थी। आस्थे! तूने ब्राह्मण दम्पतिको अलौकिक अमृतपान करा दिया। तू धन्य है! इसीलिये अतिथिसेवा आर्य-संस्कृतिका श्रृङ्गार बनकर आज भी विश्व-वन्द्य है।

यतिके आगे केलेके पत्तेपर परोसा रखा गया। ब्राह्मणी परोस रही थी और ब्राह्मण भक्तिसे पंखा झल रहे थे। यतिदेव रुचिसे भोजन करने लगे। बूढ़े थे, अतः 'परोसा' बड़ा नहीं लगाया गया था। बूढ़े संन्यासी उस पवित्र परोसे—रसोईको चट कर गये। बोले—'रसोई तो भाई! रसोई ही है! कुछ और हो तो दो! लगता है—आज ही रुचि, तुष्टि और पुष्टिके विशिष्ट गुणवाली रसोई मिली है, बड़ी तृप्ति हो रही है, लाओ, थोड़ा और दो।' ब्राह्मणीने बचे सभी प्रकारके अन्न, व्यञ्जन (शाक आदि)परोस दिये। बूढ़े संन्यासीने सब पा लिया और उनकी तृप्ति-सूचक डकारके साथ यह उद्गार निकल पड़ा—'अतिथि-सेवाका महत्त्व इन्हींमें समाहित है, धन्य हैं—ये विश्ववन्द्य दम्पति!' स्त्रियोंका गर्व और गौरव अपने लम्बे, घने, चीकने केशोंपर होता है, पर इस ब्राह्मणीने अतिथिसेवामें उनका उपयोग कर गर्वका अनुभव किया और दोनों प्राणी फिर भी भूखे रहकर अनुद्विग्न बने प्रसन्न हैं।

फिर वे यति न जाने क्या-क्या सोचते रहे और उससे कठिन परीक्षाकी एक और योजना बना दी। भावुक भक्त क्या जाने कि ये यति किस भूखके भूखे हैं। उन्हें अभी और भाव-भोजन चाहिये था। सो, दामोदर दम्पतिके पास था ही; पर यति उसका उपयोग भोजन-सामानोंमें देखना चाहते थे जो अब उस दम्पतिके लिये दुर्लभ था। यतिने प्रस्ताव किया—'भाई! अब तो रात हो रही है, अब मैं यहीं रात बिताऊँगा। भोजनके लिये विशेष पदार्थ बनानेकी आवश्यकता नहीं है, केवल एक हँड़िया चावलसे काम चला लूँगा।' दामोदरने 'जो आज्ञा' कहकर सिर नवाया। दामोदर-दम्पतिके लिये यह नयी जटिल समस्या थी। अब कौन उपाय हो? ब्राह्मणने पुनः ब्राह्मणीसे कहा—'देवि! अब क्या होगा?' ब्राह्मणीने तत्काल उत्तर दिया—'बचे बालोंसे उसी प्रकार व्यवस्था की जाय'। वही हुआ।

अब भक्त दामोदरकी पत्नीका सिर बाल-विरहित था। उसने एक चिथड़ेसे उसे ढँक लिया था। ब्राह्मण-देव जब उसे अतिथिसेवामें तत्पर देखते तो उत्फुल्ल हो उठते थे, पर सिरकी ओर दृष्टि जाते ही उनकी विवशता आँखोंसे बरस पड़ती थी। पति भिक्षुक है तो क्या,

पुरुषार्थ तो उसीके पल्ले है। पर त्यागिनी दामोदर-पत्नीका पलड़ा यहाँ भारी पड़ गया है—'एक नहीं, दो-दो मात्राएँ 'नर'से भारी 'नारी'।'

पुनः रसोई बनी। अतिथिदेव भोजनपर बैठे और धीरे-धीरे सारा-का-सारा भोजन समाप्त कर दिया। कितने भूखे थे वे! हाथ-मुँह धोया। दामोदरने उनके सोनेकी व्यवस्था घास-पत्तों, फटा-टूटा आसन लगाकर कर दी—'यद् आत्मार्थं तद् देवार्थम्'—जो अपने लिये था, उसे देवताके लिये उपयुक्त किया। बेचारे और कर ही क्या सकते थे।

दामोदर अतिथिके पैर दाब रहे थे और उनकी धर्मशीला पत्नी अपनी फटी साड़ीके आँचलसे हवा कर रही थीं। अतिथि अपूर्व सुखनींदमें सो रहे थे। क्या विचित्र अलौकिक छटा थी? दामोदर अब भी नहीं समझ पा रहे थे कि ये अतिथिदेव 'देव' अतिथि हैं। उन्हें तो शास्त्रीय पद्धतिपर अपने कर्त्तव्य—अतिथि-सेवासे मतलब था, अतिथि चाहे जो हो, उनके लिये वही देव था। धर्मका ऐसा निर्मल स्वरूप शायद ही कहीं अन्यत्र मिले।

अतिथि सो गये, तब ब्राह्मणीने अपने पतिदेवसे निवेदन किया। 'आर्य-पुत्र! अतिथिदेव बड़े बूढ़े हैं। इस दुबले शरीरसे ये कल सुबह भी कैसे कहाँ जायँगे। आप कल सवेरे किसी नगरमें जायँ। जो मिल जायगा, उससे इनकी कल भी सेवा की जाय—भले ही हम-लोग वैसेही रह जायँगे। हमारे लिये यह कोई नयी बात नहीं होगी। हमें अपने धर्म-कर्तव्य पर डटे रहना चाहिये।'

पति पत्नीकी बातसे अतीव प्रसन्न हुए। यही निश्चय हुआ—कल भी अतिथिकी आव-भगवत की जायगी। अतिथि जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिके द्रष्टा थे। वे पति-पत्नीकी धर्म-भावनाकी मधुरिमामें करुणार्द्र हो चुके थे। करुणावरुणालय यतिदेवकी आँखोंके एक कोरसे करुणाकी धारा निकल पड़ी। हृदय मुँहको आने लगा। यति जिस भावके भूखे दौड़े बूढ़े बने यहाँ आये थे, उससे उन्हें आत्यन्तिक तृप्ति मिल चुकी थी। अब उनकी कृतज्ञता क्रियान्वित होना चाहती थी। भगवान्‌की भक्त-प्रियता कुछ करनेके लिये आकुल हो उठी थी—'अमोघा भगवद्भक्तिः' भगवान्‌की चाहे जिस रूपमें की गयी भक्ति फलदायिनी होती ही है।

यतिरूपी भगवान्‌ने माया-निद्रासे दम्पतिको सुला दिया और आप उठ बैठे। पति-पत्नी अतिथिदेवके चरणोंमें मस्तक रखे कर्तव्यपूर्तिकी सुखनींदमें सोये पड़े हैं। भगवान् पतिव्रता देवीके मुण्डित मस्तक पर हाथ फेरते हुए बोले—'माँ! ओ माँ!! तूने मेरे भोजनके लिये अपने मस्तकको मुण्डित बनाया। तुम्हारे भावका भूखा मैं संतृप्त हो गया। तुम्हारा यह मस्तक पुनः कुञ्चित कोमल केशोंसे पूर्ण हो जाय। माँ! तेरा सारा तन मणिरत्नमय आभूषणोंसे भूषित हो जाय! मातः! तेरा यह शरीर सौन्दर्य-सुषमासे मण्डित हो जाय।'

सच है—जब आद्य महर्षियोंकी वाणीका अनुसरण तथ्य करते हैं तो भगवान्‌की अवितथ वाणीका कहना ही क्या? वाणी वरदान बनती गयी। दामोदर-पत्नी अब एक स्पृहणीय गृहिणी बन गयी थी। ऐसा कुञ्चित केश-पाश, आभूषणोंसे भरी कञ्चन-काया और शीलसे विमण्डित सौन्दर्य किसी दिव्य नारीमें ही देखनेको मिल सकते थे।

× × × × ×

भगवान् उठ खड़े हुए और चारों ओर अपनी कृपादृष्टि फेरी। करुणा-पूर्ण शब्दोंमें फिर बोले—'कुटिया! तू राज-महल बन जा! राजद्वार! तू धनरत्नोंसे भर जा।' फिर क्या था—देखते-देखते कुटिया राजमहल हो गयी और धन-धान्यकी शोभा दिव्य बन गयी। फिर भगवान्‌ने आशी-र्वादके अमृत शब्द बोले—'अरे आदर्श दम्पति! अपनी

पूर्ण आयु सुखसे बिताओ और उसके बाद मेरे धाम बैकुण्ठ चले आओ।'

परीक्षा पूरी हो गयी और परीक्षाफल घोषित हो चुका। सेवाका फल मेवा देकर भगवान् अन्तर्धान हो गये।

अब दामोदर-दम्पति जगे। उनके आश्चर्यका ठिकाना न रहा—'अरे! यह सब क्या है! मेरे शरीरमें आभूषण कहाँसे आकर लद गये? मेरा शरीर कितना सुन्दर गठीला बन गया! पतिदेव कितने हट्टे-कट्टे और स्वस्थ सुन्दर दीख रहे हैं। ये महल कहाँसे आ गये। अरी! मेरी कुटिया कहाँ गयी! हरे! हरे! वे बूढ़े संन्यासी नहीं दीखते हैं—पतिदेव! क्या बात है?' ब्राह्मणने दैवी ऐश्वर्य-सम्पत्ति देखकर ताड़ लिया—यह तो भगवान्‌की विभूति है। सुदामाको भी तो ऐसा ही हुआ था—'सुदामा मंदिर देखि डर्‌यौ।'

किंतु सुदामाने तो अतिथिदेवको नहीं, प्रत्यक्षमें भगवान्‌को ही चावल खिलाये थे। वे पत्नीके कहनेपर अपनी दारिद्र्यसे पीड़ित दशाको निवेदित कर सहायताके उद्देश्यसे द्वारका गये थे, तब कहीं सुदामापुरी स्वर्गपुरी बनी थी। किंतु, दामोदरकी निष्ठा, धर्म-भावना और अतिथि-सत्कारकी लोकोत्तर प्रवृत्तिने भगवान्‌को उनकी टूटी कुटियापर ला दिया। इन भाग्यवान् दम्पतिने विश्वम्भर-को सत्कृत कर सारे विश्वका सत्कार कर दिया।

यथा हि स्कन्धशाखानां तरोर्मूलावसेचनम्।
एवमाराधनं विष्णोः सर्वेषामात्मनश्च हि॥
(श्रीमद्भागवत ८।५।४९)

दामोदरने अब समझा कि प्रभुकी कृपाका यह एक अद्भुत निदर्शन है। शरीर पुलकित हो उठा। कृतज्ञता गङ्गा-यमुना बनकर आखोंसे बह चली। सम्भल-कर बोले—'प्रिये! भगवान्‌को कहाँ खोजूँ? यह सब उनकी कृपा है, पर जिस प्रकार वे यहाँतक आये, सब कुछ किया, उसे हमें नहीं भूलना चाहिये। हमें अब चौगुने-अठगुने उत्साह, लगन आदि निष्ठासे धर्म्य, कर्तव्य करते रहना है। हाँ, ध्यान यह रखना है कि 'श्रीमदसे कभी भगवत्-स्मरण न छूटने पाये।'

दामोदर दम्पतिका जीवन फिर भी साधु-संत और भगवद्भक्ति तथा गो-ब्राह्मण सेवामें बीतता गया। वे दीन-दुखियोंको भगवान्‌का रूप मानकर सेवा करते थे। जीवनभर सेवाकर जीवनान्तमें सेवा-फल प्राप्त कर लिया। देहावसानके बाद दोनों प्राणी वैकुण्ठमें जा विराजे। दामोदर-दम्पतिकी गाथा **'अतिथि-देवोभव'**की अनूठी व्याख्या बन गयी।

जगतमें भक्ति बड़ी सुखदानी

जगतमें भक्ति बड़ी सुख-दानी।
जो जन भक्ति करे केशवकी सर्वोत्तम सोइ प्रानी॥
सबमें देखे इष्ट आपनो, निज अनन्यपन जानी।
नैन नेह जल द्रवत रहत नित, सर्व अंग पुलकानी॥
हरि मिलने-हित नित उमंग चित, सुध-बुध सब बिसरानी।
विरह-व्यथामें व्याकुल निशि-दिन, ज्यों मछली बिन पानी॥
ऐसे भक्तनके वश भगवत, वेदन प्रगट बखानी।
सरस माधुरी हरि हँस भेंटे, मेटें आवन जानी॥

—संत सरस माधुरी

उच्च कार्योंकी सफलतामें ईश्वरका हाथ !

(लेखक—डॉ० रामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

उच्च कार्योंकी सफलतामें उच्च शक्ति, दिव्यबल और लोकोत्तरप्रेरणास्रोतकी आवश्यकता होती है। जिसके पास सर्वशक्तिमान् ईश्वरका बल है, उसके पास शक्तिकी कभी कमी नहीं आ सकती। उच्चताकी ओर उठानेवाले परमात्मा ही हैं। वे श्रेष्ठ-सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् सबके अधिष्ठाता और सर्वाधार हैं। वे ही सब उच्च कार्योंके नियन्त्रणकर्ता हैं। वे ही सबके शुभाशुभ कर्म-फलोंका यथायोग्य विधान करते हैं। इसीलिये वे सबके नियन्ता हैं। इतना होनेपर भी ईश्वर अत्यन्त ही सूक्ष्म है; संसारमें जितने भी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म तत्त्व हैं, उन सबसे बढ़कर सूक्ष्म है और समस्त उच्च दिव्य और कल्याणकारी पुरुषोंमें व्याप्त है। इसी कारण सूक्ष्मदर्शी पुरुषोंकी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म बुद्धि उसका अनुभव करती है। इतना सूक्ष्म होनेपर भी वह समस्त विश्व-ब्रह्माण्डका आधार है। वही सबका धारण-पालन और पोषण करता है। इसलिये वही धाता है। वह सदा सबमें व्याप्त है। और सबके धारण-पोषणमें लगा हुआ है। मन और बुद्धिमें जो सच्चिन्तन और सद्विचार करनेकी शक्ति आती है, उसका मूल-स्रोत ईश्वर है। सत्पुरुष उसीकी प्रेरणा लेकर कार्यशील रहते हैं। वह निरन्तर इनकी ओर सबको देखता है तथा उनमें शक्तिसंचार करता है, किंतु ये उसे नहीं देख पाते; इसलिये वह अचिन्त्यरूप है। अचिन्त्य होनेपर भी वह प्रकाशमय है और सदा-सर्वदा दिव्य प्रकाश (विवेक) देता रहता है। उस ईश्वरके साथ होनेपर अविद्या और अज्ञानकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। जैसे सूर्यसे अन्धकार नष्ट हो जाता है, वैसे ही ईश्वरद्वारा मिलनेवाला प्रकाश अनन्त ज्ञानमय, सदा-सर्वदा अज्ञान-तमको दूर करनेवाला है। घोर विषयी पुरुष भी दिव्य प्रकाशकी उज्ज्वल किरणें पाकर अज्ञानसे मुक्त हो जाता है।

यदि हम उच्च कार्योंको त्यागकर निंद्य, हिंसक, दुष्टतापूर्ण लोकविनाशकारी कार्योंकी ओर ध्यान देते हैं, तो हम ईश्वरका भरोसा कहाँ करते हैं? हम किसीके विचार, संकल्प अथवा कार्यमें जो भी दिव्यता पाते हैं, उसका आदि स्रोत आपकी आत्मामें विराजे हुए सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप भगवान् ही हैं। मानसिक व्यावहारिक नैतिक आचारिक उच्चता ईश्वरसे ही प्राप्त होती है। जो उच्चता है, वही ऐश्वर्य है; जो नीचता है वही राक्षसत्व है। ईश्वर ही हमें शुभ कार्य करते हुए आत्मोन्नति और लोकसेवाके लिये प्रेरित करते हैं। वे हमें उस उन्नत मार्गकी ओर चलाते हैं, जिस मार्गपर चलनेसे हमारी सर्वाङ्गीण उन्नति होती है।

तमाम उच्च कार्य उच्च दैवी-शक्ति—ईश्वरके विश्वाससे ही पूर्ण होते हैं। ईश्वरका विश्वास आपकी सोई हुई दिव्य शक्तियोंको जागृत और विकसित कर देता है।

ऊँचा उठनेका मार्ग कौन-सा है? वह मार्ग जिससे सत्कर्मकी ओर प्रेरणा मिलती है—ईश्वरीय मार्ग है। ईश्वर सब प्राणियोंमें रहकर मनुष्यको उन्नति, विकास, ज्ञान, सेवा, त्याग और कल्याणकी ओर बढ़ा रहे हैं। ईश्वरका विधान सद्बुद्धिका विकास है। हम इसी देवमार्गपर बढ़ते रहें। देवमार्गपर चलनेका अर्थ है—सामाजिक प्रतिष्ठाके साथ-साथ उत्तम कार्योंद्वारा सम्पादित कीर्ति—आध्यात्मिक पूर्णता। अपने चुने हुए क्षेत्रमें उच्चतम स्थानपर पहुँचकर मनुष्य वन्दनीय हो जाते हैं।

साधकोंके प्रति

[ज्ञानाग्निसे पापोंका नाश]

जैसे दहकती हुई अग्नि संपूर्ण काष्ठोंको जलाकर राख (भस्ममय) कर देती है, ऐसे ही 'ज्ञानाग्नि' (ज्ञानरूपी अग्नि) अनन्त जन्मोंके शुभाशुभ कर्मोंको जलाकर भस्म कर देती है—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥
(गीता ४ । ३७)

'सर्व' शब्दका अर्थ है, पूर्ण रीतिसे। काष्ठके जल जानेपर राख और कोयला रह जाते हैं; परंतु कर्मोंके भस्म होनेपर उनका कुछ भी शेष नहीं रह जाता। यह ज्ञानका माहात्म्य है। इससे सिद्ध है कि महान् पापी भी उस तत्त्वको पा सकते हैं और उनके संपूर्ण पापोंका नाश हो जाता है। फिर साधकको उस तत्त्वकी प्राप्ति हो जाय, इसमें संदेह करना ही भूल है, अर्थात् उस तत्त्वकी प्राप्तिके विषयमें हमें कभी निराश नहीं होना चाहिये।

इस सम्बन्धमें गीता एक विलक्षण बात कहती है कि 'केवल उस तत्त्वको प्राप्त करना है' (९ । ३०) ऐसा पक्का निश्चय करते ही उसी क्षण मनुष्य धर्मात्मा बन जाता है और महान् शान्तिको प्राप्त हो जाता है—

'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
(गीता ९ । ३१)

'वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परमशान्तिको प्राप्त होता है।'

संसारमें अधिक लोगोंकी धारणा यह रहती है कि हमें तो संसारके कार्य करने हैं। दूसरे ऐसे भी मनुष्य हैं, जो कहते हैं कि हमें संसारके कामके साथ-साथ भजन भी करना है। उनके मनमें यह बात बसी रहती है कि घरका काम है, कुटुम्बका काम है, यह काम है, वह काम है। ऐसे व्यक्ति भजन-सत्संगको गौण मानते हैं और संसारका काम 'करना है ही'—आवश्यक मानते हैं। वास्तवमें संसारके कार्यको अनिवार्य मानना सर्वथा भ्रम, धोखा और विश्वासघात है। भगवान्‌ने मानव-शरीर दिया है कल्याण करनेके लिये और यह लगाया गया संग्रह एवं भोगोंमें। इस प्रकार भगवान्‌के साथ भी हम मानव (मनस्वी) होकर भी कैसा विश्वासघात कर रहे हैं!

नीतिमें आता है—

शतं विहाय भोक्तव्यं सहस्रं स्नानमाचरेत्।
लक्षं विहाय दातव्यं कोटिं त्यक्त्वा हरिं स्मरेत्॥

सौ काम छोड़कर मनुष्यको चाहिये कि भोजन कर ले। हजार काम छोड़कर स्नान कर लेना चाहिये और दान देनेका सुअवसर आ जाय तो दूसरे लाखों काम बिगड़ते हों तो भी उनकी परवा न करके दानका कार्य प्रथम करे। अन्तमें कहा कि करोड़ों काम बिगड़ रहे हों, तो कोई बात नहीं, परंतु भगवान्‌का स्मरण पहले होना चाहिये। क्योंकि संसारका काम सुधर गया तो भी बिगड़ गया और बिगड़ गया तो भी बिगड़ गया। कारण कि अन्तमें बिगड़नेवाला ही है और अपने साथ रहनेवाला भी नहीं है। भजनके समान दूसरा कोई काम नहीं है। शास्त्र और संतोंके वचन तो बहुत श्रेष्ठ होते हैं, परंतु नीतिशास्त्र भी कहते हैं कि सबसे पहले करनेका कार्य हरिभजन है। भजनके बाद समय मिलेगा तो दूसरे कामोंके विषयमें विचार करेंगे। तत्त्वप्राप्तिका काम तो कर ही लेना है। जैसे भी, जब भी अर्थात् चाहे दुःख, संताप, जलन, तिरस्कार, अपमान, निन्दा हो और चाहे दरिद्रता, विपत्ति आती हो—ये सब स्वीकार हैं; परंतु उस तत्त्व-प्राप्तिमें देरी न होनी चाहिये। यदि मनुष्य भगवान्‌के लिये पूरी शक्ति लगा देता है तो भगवान् मनुष्यके लिये

पूरी शक्ति लगा देते हैं। फिर देरीका क्या काम? क्योंकि भगवच्छक्ति अपार-अनन्त है। श्रीभगवान् कहते हैं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
(गीता ४। ११)

'जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजता है, मैं भी उसको उसी प्रकार भजता हूँ' फिर भी प्राणी पूरी शक्ति लगाते नहीं। जीव सभी प्रकारकी साधन-सामग्रीसे सम्पन्न है, तत्त्वप्राप्तिका अधिकार भी पूरा है और उसकी प्राप्तिके लिये सभी सबल हैं, जब कि सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्तिके लिये उपर्युक्त नियम नहीं है। क्योंकि संसारकी वस्तुएँ सबको पूरी नहीं मिली हैं। अगर किन्हींको कुछ मिली भी हैं तो वे थोड़े लोग हैं। किंतु भगवान् सबको प्राप्तव्य हैं—

बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥
(गीता ४। १०)

'बहुतसे भक्त उपर्युक्त ज्ञानरूप तपसे पवित्र होकर मेरे स्वरूपको प्राप्त हो चुके हैं।' सब लोग लखपति, करोड़पति नहीं बन सकते। अरबपति तो बहुत थोड़े ही बनेंगे; किंतु आध्यात्मिक क्षेत्रमें सब-के-सब 'सर्वतःपति' बनेंगे। कोई किंचिन्मात्र भी कम नहीं रहेगा। ब्रह्माजी, शुकदेवजी, शंकरजी, वसिष्ठजी, सनकादिक और नारदादिकोंको जो ज्ञान प्राप्त है, वही ज्ञान आज भी हमें प्राप्त हो सकता है।

ऐसा उत्तम अवसर पाकर भी हम उसे व्यर्थ नष्ट कर रहे हैं, यही बड़ा धोखा है। हमारा यह कैसा अविवेक है! जो नरतन पाकर प्रभुकी प्राप्तिके लिये प्रयत्नशील नहीं होते वे आत्मघाती, मन्दमति, महामूढ़ हैं।

ते कृतनिन्दक मन्दमति आत्माहन गति जाय।

इसलिये उस तत्त्वको प्राप्त करना है; और, करना है इच्छामात्रसे। चाहे जो हो, उसको प्राप्त करना ही है। ऐसी पक्की इच्छामात्रकी आवश्यकता है। उस सत्-तत्त्वकी प्राप्तिमें अन्य किसीको हेतु मानना कि गुरु नहीं मिलता, उपाय नहीं मिलता, भगवान्‌की कृपा नहीं मिलती—ये सब व्यर्थकी बातें हैं। अच्छे-से-अच्छे गुरु आज भी तैयार हैं। भगवान्‌की कृपा तो सदैव अखण्ड-रूपसे है ही। प्रकृति सहायता देनेको तैयार है। आपका दृढ़ निश्चय होनेपर कोई बाधा देनेवाला नहीं है। उस तत्त्वकी प्राप्तिके लिये वैर रखनेवाले, प्रेम रखनेवाले और उदासीन रहनेवाले सब-के-सब सहायक होंगे। इनमें भी दुःख देनेवाले इस कार्यमें प्रथम श्रेणीके सहायक होंगे।

यदि हम सत्-पदार्थको प्राप्त नहीं कर सकते तो असत्‌को क्या प्राप्त करेंगे? क्योंकि—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

अभाव कहते हैं (संसारके पदार्थरूपको,) जो हैं ही नहीं, अतः उसमें मुख्य अभाव ही है। भाव (परमात्मा) अनुभवमें न आयें तो भी है और अनुभवमें आ जायँ तो भी है। केवल सत्‌के अनुभवकी जिज्ञासा एवं असत्‌में सुख-भोग-बुद्धिका त्याग करना है।

चेतावनी

प्रानी! जप ले तू सतनाम॥

मात-पिता सुत कुटुम कबीला, यह नहिं आवै काम।
सब अपने स्वारथ के संगी, संग न चलै छदाम॥
देना-लेना जो कुछ होवै, करि ले अपना काम।
आगे हाट-बजार न पावै, कोइ नहिं पावै ग्राम॥
काम क्रोध मद लोभ मोह ने, आन बिछाया दाम।
क्यों मतवारा भया बावरे, भजन करो निःकाम॥
यह नर-देही हाथ न आवै, चल तू अपने धाम।
अब की चूक माफ नहिं होगी, दूलन अचल मुकाम॥

—संत दूलनदासजी

मान और अभिमान

(लेखक—श्रीगणेशलालजी कर्ण, प्रवासी)

मान और अभिमानका एक पहलू सामाजिक होता है और दूसरा आध्यात्मिक। सामाजिक आदर्श हो या आध्यात्मिक, उदाहरण उसके लिये अशिक्षितोंको सामने नहीं रखा जा सकता। सभ्य, शिक्षित, सुसंस्कृत व्यक्तियोंके वाणी-विचार, व्यवहार और कार्यको सामने रखकर ही किसी आदर्श या उदाहरणको हम तौल या परख सकते हैं।

हमें चाहे सामाजिक मान-प्रतिष्ठा कितनी भी प्राप्त हो, किंतु मानवजीवनके लिये उसका विशेष महत्त्व नहीं माना जाता है। देखनेमें यह आता है कि जब मनुष्य सामाजिक दायरेसे बाहर निकलकर जीवन-चेतना प्राप्त करते हैं कि यह जीवन वह नहीं है, जो हम समझ रहे हैं तब उसे ऐसी प्रेरणा प्राप्त होनेपर उनकी सामाजिक भूमिका समाप्त हो जाती है। वे किसी अज्ञात लक्ष्यकी ओर बढ़ने लगते हैं। उनका जीवन-स्तर ही बदल जाता है।

भारतीय वेदों उपनिषदोंका यही दिशासंकेत रहा है कि जबतक मानवकी आध्यात्मिक चेतना जाग्रत् नहीं होती, तबतक उसका जीवन सफल नहीं माना जा सकता है। यह सफलता क्या है? हममेंसे कितने लोग इसे समझ सकते हैं?

यह कथमपि अत्युक्ति नहीं कि जबतक हम सामाजिक दायरेमें रहते हैं, हमारे जीवनकी सामाजिक भूमिका बनी रहती है, हम मानव-जीवनको सही मान नहीं दे सकते हैं। मानका तात्पर्य—मूल्याङ्कन होता है। इसका अर्थ यह नहीं समझा जाय कि हम केवल पैसोंसे ही मूल्याङ्कन कर सकते हैं? मूल्याङ्कनके और भी प्रकार होते हैं।

हम किसी चीजका सही मूल्याङ्कन करनेमें समर्थ कब हो सकते हैं, जब हम उस चीजको जान-समझ सकें, उसकी उपयोगिताओंको जान सकें, उस चीजकी खूबी-खासियतको भी समझ सकें।

सामाजिक जीवनके दायरेमें भौतिक भावनाओंके बीच रहकर हम अपने मानव-जीवनका अभिमान जरूर कर सकते हैं, उसका सही मूल्याङ्कन नहीं कर सकते, जिसे मान कहा जाता है। यह तथ्य सरल होते हुए भी ज्ञानगम्य है। शिक्षा और सम्पत्तिके अभिमानमें रहकर हम इस सुगम तथ्यको समझ भी नहीं सकेंगे तो उसका मान भला कैसे कर पायँगे?

शरीराभिमानको साथ लेकर हम आध्यात्मिक भूमिकामें प्रवेश नहीं कर सकते हैं। संत-सत्पुरुषोंका ऐसा ही कथन है। प्रकृतिप्रदत्त क्षमता हर किसीको प्राप्त है, किंतु जो उसका उपयोग और सदुपयोग करते हैं, वे ही लाभान्वित होते हैं। यह एक निर्विवाद सत्य है। फिर भी क्या हम इस कथनको माननेके लिए तैयार हैं?

समाजमें प्रभु-शक्तिकी प्रधानता है। एक मनुष्य दूसरेको अपने प्रभावमें रखकर अधिक-से-अधिक स्वार्थ-साधना करनेको अपना मान समझते हैं—जब कि वह मान नहीं स्वच्छ अभिमान है।

हम दूध-जैसे सफेद वस्त्र पहनते हैं, चौमंजिली अट्टालिकाओंमें रहते हैं, तो इसका अर्थ यह थोड़े हो सकता है कि हम बहुत सभ्य और शिक्षित हैं? सभ्यता और शिक्षाका प्रतीक तो हमारा वाणी-विचार, कार्य-व्यवहार, हमारी भावना-चेतना है।

अभिमानको छोड़े विना आजतक कोई भी मानतक नहीं पहुँच सके हैं। उसके लिये उदाहरण देनेकी आवश्यकता नहीं है।

मान और अभिमानके बीचमें एक शब्द स्वाभिमानका आता है। उसे भी समझ लेना आवश्यक है कि यह स्वाभिमान क्या है, इसका क्या अर्थ होता है?

हम जो कुछ हैं, उतना ही मानें, उससे अधिक मनवानेकी कोशिश न करें तो यह हमारा स्वाभिमान होगा।

किसीने ऐसा कहा है—मानतक पहुँचनेके लिये हम अभिमानको अपना साथी न बनायें। अगर ऐसा किया तो उसका परिणाम वैसा ही हो सकता है, जैसा कि अभिमानको जीवनकी सफलता मानकर होता है।

शाश्वतकी अवहेलना करके अशाश्वतकी आराधना करना कहाँतक सही है? इसे समझनेमें क्या हम अपने ज्ञानका, विवेकका सदुपयोग नहीं करते हैं? आत्माके सामने शरीरका क्या अस्तित्व है?

वैसे यह सत्य है कि कर्मयोगके लिये शरीरकी महत्ता जरूर मानी जानी चाहिये। किंतु जीवनका लक्ष्य कर्मफलका त्याग या भगवत्प्राप्ति माना गया है।

ऋषि-महर्षियोंके जीवनसे, वेदोपनिषदोंके अध्ययनसे, यह निर्विवाद सिद्ध है कि हम अभिमानका त्याग कर ही अपने मानव-जीवनका सही मान प्राप्त कर सकते हैं।

अडिग निश्चय—सफलताकी कुंजी

राष्ट्रिय स्वयंसेवक संघके मूल संस्थापक स्वनामधन्य डॉक्टर श्रीकेशवराव बलिराम हेडगेवार किसी कारणवश एक बार शनिवारके दिन कुछ साथियोंको लेकर अड़े गाँव गये हुए थे। वहाँ कार्यक्रममें संध्या हो गयी। यह गाँव नागपुरसे बत्तीस मीलकी दूरीपर स्थित है, रास्ता बहुत ही विकट है। गाँव नागपुर अमरावतीकी पक्की सड़कसे भी नौ-दस मील दूर है। डॉक्टर साहबका नागपुर पहुँचना आवश्यक था; क्योंकि उनका नियम था कि प्रत्येक रविवारको प्रातःकालकी परेडमें वे स्वयं नागपुर उपस्थित रहते थे। साथियोंने अनुरोध किया कि आज रात यहाँ ठहरें। पर वे उनके निश्चयको परिवर्तित नहीं कर सके।

रात अँधेरी, रास्तेमें कीचड़ और पैर मिट्टीसे सने हुए, इसपर पैरमें एक काँटा गहरा चुभा हुआ। इतनी दूरकी पदल यात्रा। कुछ भी हो, प्रत्येक बाधापर पैर रखकर निःशङ्क आगे बढ़ते जाना तो उनकी आदत हो गयी थी। उनका विश्वास था कि लक्ष्य-प्राप्तिके मार्गमें कठिनाइयाँ तो आयँगी ही। इसलिये निश्चय करके उत्साहपूर्वक उन्होंने यात्रा प्रारम्भ कर दी।

डॉक्टरजीके यात्रा प्रारम्भ करते ही घनघोर मूसलाधार वृष्टि आरम्भ हो गयी। पर संकटोंने अधिक देरतक उनकी परीक्षा नहीं ली। भगवान् सम्भवतः उनके साहसको ही परखना चाहते थे। डॉक्टरजी इस कसौटीपर खरे उतरे। कुछ ही मील पैदल चलनेपर उसी रास्ते नागपुर जानेवाली मोटर लगभग ग्यारह बजे रातको मिल गयी। ड्राइवरने डॉक्टर साहबको पहचानकर गाड़ी खड़ी की और उसमें उन्हें चढ़ा लिया। गाड़ी खचाखच भरी थी, फिर भी किसी प्रकार पावदान आदिपर खड़े होकर साथियोंने जगह ली। ढाई-तीन बजे रातको सब नागपुर पहुँच गये। निश्चयानुसार डॉक्टरजी प्रातःकालिक परेडके कार्यक्रममें उपस्थित रह सके।

डॉक्टरजीकी सफलताकी यही कुंजी है। उनका निश्चय अटल था। आत्म-विश्वास तथा आत्म-श्रद्धा उनमें भरपूर थी। कठिनाइयों और विपत्तियोंका सामना करनेमें उन्हें आनन्द आता था। साहस, शौर्य, निश्चयपर अडिग रहना उनका स्वभाव था।

चिन्तन-सार

संसार क्षणभङ्गुर और अनित्य है, यहाँ एक पलका भी भरोसा नहीं; जो कुछ कल्याणका काम करना है, तुरंत कर लो ।

—दादूजी

चित्तसे निरन्तर परमात्म-तत्त्वका चिन्तन करते रहो, अनित्य धनकी चिन्ता छोड़ दो । साधु-संगको भी भवसागरसे तारनेके लिये नौका-स्वरूप समझो ।

—श्रीशंकराचार्य

जलमें नाव रहे तो कोई हानि नहीं, पर नावमें जल नहीं रहना चाहिये । साधक संसारमें रहे तो कोई हानि नहीं, परंतु साधकके भीतर संसार नहीं रहना चाहिये ।

—श्रीरामकृष्ण परमहंस

रागके समान आग नहीं, द्वेषके समान भूत—पिशाच नहीं, मोहके समान जल नहीं और तृष्णाके समान नदी नहीं ।

—भगवान् बुद्ध

ईर्ष्या, लोभ, क्रोध और अप्रिय किंवा कटु वचन—इनसे सदा अलग रहो; धर्म-प्राप्तिका यही मार्ग है ।

—तिरुवल्लुर

'मैं' और 'मेरा' इन दो शब्दोंमें ही सारे जगत्के दुःख भरे हैं । जहाँ 'मैं', 'मेरा' नहीं है, वहाँ दुःखोंका अत्यन्त अभाव है ।

—स्वामी रामतीर्थ

सच्चा विरक्त उसीको कहना चाहिये जो मानके स्थानसे ही सदा दूर रहता है । वह सत्संगमें स्थिर रहता है । मानके लिये कदापि नहीं तरसता । और अपना कोई नया समुदाय नहीं चलाता ।

—संत एकनाथ

जो बीते हुएका स्मरण नहीं करता, मिले हुएकी इच्छा नहीं रखता, अन्तःकरणमें मेरुके समान अचल रहता है और जिसका अन्तःकरण 'मैं—मेरा' भूला रहता है, वही निरन्तर संन्यासी है ।

—संत ज्ञानेश्वर

जब काल सुमेरु-जैसे पर्वतोंको जला देता है, बड़े-बड़े सागरोंको सुखा देता है, पृथ्वीका नाश कर देता है, तब हाथीके कानकी कोरके समान चञ्चल मनुष्य तो किस गिनतीमें है ।

—भर्तृहरि

जिससे सब जीव निडर रहते हैं और जो सब प्राणियोंसे निडर रहता है, वह मोहसे छूटा हुआ सदा निर्भय रहता है ।

—भगवान् व्यासदेव

जैसे प्रवाहके वेगमें एक स्थानकी बालू अलग-अलग बह जाती है और दूर-दूरसे आकर एक जगह एकत्र हो जाती है, ऐसे ही कालके द्वारा सब प्राणियोंका भी वियोग और कभी संयोग होता है ।

—देवर्षि नारद

विलम्ब न करो, श्रीरामको तुरंत भज लो, तनरूपी तरकससे श्वासरूपी तीर निकला जा रहा है । फिर पछताना पड़ेगा ।

—गो॰ तुलसीदास

भगवान्के रूपका ही ध्यान करो भगवन्नामोंका संकीर्तन करो, भगवान्के गुणानुवादका गायन करो, भगवान्की लीलाओंका परस्पर कथन और श्रवण करो । यही एकमात्र करणीय है । इतना करनेके बाद अन्य कुछ करनेकी आवश्यकता नहीं ।

—श्रीचैतन्य महाप्रभु

भगवान् विष्णुका आश्रय ही संसारासक्त मतवाले लोगोंके लिये संसार-चक्रका नाश करनेवाला है । इसीको बुद्धिमान्लोग ब्रह्म-निर्वाण-सुख कहते हैं, अतएव तुमलोग अपने-अपने हृदयमें हृदयेश्वर श्रीभगवान्का ही भजन करो ।

—भक्तराज प्रह्लाद

कोमल और दीनहृदय जो विरहसे विकल है—वही भगवान्का निवास है ।

—ईसामसीह

जो कोई तुम्हें कोसे, उसे तुम कदापि न कोसो। याद रखो, क्रोधीके शापसे आशीषका फल मिलता है ।

—संत रैदास

पढ़ो, समझो और करो

(१)

पुनर्जन्म सत्य है

(पुनर्जन्मसम्बन्धी एक सत्य घटना)

पुनर्जन्म जो हिन्दू-जीवन-संरचनाका एक प्रमुख वैशिष्ट्य है, एक सही तथ्य है। प्रमाणस्वरूप यह घटना प्रस्तुत है। आजसे लगभग पाँच वर्ष पूर्व एक चार वर्षका बालक 'चंचल' नामक अपनी माता प्रेमवती तथा पिता ब्रह्मस्वरूप मिश्रके साथ बदायूँसे बरेली आ रहा था। पहला रेलवे स्टेशन घटपुरी (आजकल बदायूँ-घटपुरीके बीच मछ-नगर स्टापेज बन गया है) आते ही बालकने वहाँ उतरनेकी जिद की। बोला—पिताजी, घर आ गया, वह देखो। (स्टेशनके बिल्कुल समीप पूरब दिशामें बसा घटपुरी गाँव है) अपनी गुझियाकी दुकान और घर। (घटपुरी-की गुझिया प्रसिद्ध है) उसके पिता घटपुरी गाँव और गुझियाकी दुकानसे तो पूर्व परिचित थे, परंतु उस घरसे बिलकुल नहीं, जिसकी ओर बालक बार-बार संकेत कर रहा था। उतरनेके लिये बालकका बार-बार हठ और 'वह अपनी दुकान है', इन शब्दोंने उन्हें आश्चर्य-चकित कर दिया। वे अवाक् रह गये तथा कौतूहलवश ही बच्चेसहित वहाँ उतर पड़े।

दुकानके पास ही, एक घरके दरवाजेपर पहुँचकर बालकने सुरेश नामसे आवाज दी। एक महिलाके बाहर आनेपर बालकने सहसा प्रश्न किया—'तुम्हारे माथे-पर बिन्दी और पैरोंमें बिछुवा (सुहाग-चिह्न) क्यों नहीं है ? मेरा नाम किशनदत्त है। (महिला किशनदत्तकी पत्नी थी, जो कि लगभग पाँच वर्ष पूर्व दिवंगत हो चुका था।) आज भी करतौली हाल्टपर उक्त महिलाका पुत्र सुरेशचन्द वल्द किशनदत्त स्टेशन-मास्टर है। किशनदत्तकी मृत्यु और पुनर्जन्मका कारण किशनदत्तकी हत्या थी, जो कि सम्भवतः आपसी रंजिश और मनोमालिन्यको लेकर की हुई थी। मृत्यु तथा बालकके जन्मका अन्तर लगभग दस-ग्यारह मास है।

आश्चर्यकी बात यह है कि किशनदत्त (जो इस समय बालक चंचल है) प्रेमवती (वर्तमानमें बालककी माता)के फुफेरे भाई थे। जिनके यहाँ, बालककी माता (प्रेमवती)का जाना-आना बराबर ही रहता था तथा भाई किशनदत्तका अपनी ममेरी (मामाकी पुत्री) बहनसे स्नेह-सौहार्द भी अधिक था। बालक इस समय अपने बड़े भाई बालक गोविन्द मिश्र तथा माता प्रेमवतीके साथ बदायूँमें ही रह रहा है। अब उसके पिताजीका स्वर्गवास हो चुका है। उल्लेखनीय है कि बालकको आज भी जब कभी अपने पूर्व-जीवन-की बातें याद आती हैं तो वह बड़े आत्मविश्वासके साथ उनकी चर्चा करके तथा किसी प्रसङ्गके चल जानेपर प्रमुख घटनाओं, प्रसङ्गों और सम्बन्धोंकी प्रामाणिक जानकारी देकर और अकाट्य बातें सुना-सुनाकर सबको विस्मय-विमुग्ध कर देता है, बल्कि इस रूपमें इस घटनासे हिन्दूदर्शन और सनातन वैदिक-संस्कृतिके 'पुनर्जन्म-सिद्धान्त'की प्रबल पुष्टि होती है।

बालक चंचल घटनाप्रेषककी पत्नी श्रीमती गिरिजा-किशोरी 'गिरिजा'का छोटा भाई है और वह इस समय अपनी मा तथा भाईके साथ बदायूँमें रह रहा है। अब उसका पूरा नाम चञ्चलस्वरूप मिश्र है।

'पुनर्जन्म' सत्य तथा सर्वथा सम्भव है—यह उपर्युक्त घटनासे सुस्पष्ट और स्वयमेव प्रमाणित है। आजकल तो देखनेमें आता है कि आधुनिक विचार-धाराके लोग 'पुनर्जन्म और परलोकवाद'को प्रायः नहीं मानते। इस प्रकार वे अपने ही अज्ञानका परिचय देकर अपनी भ्रान्ति प्रकट करते हैं। किंतु इस प्रकारकी भ्रान्तिपूर्ण विचारधारासे विरत होनेके लिये

अपनेमें सच्ची जिज्ञासा जगानेकी आवश्यकता है। इसके लिये धीरतापूर्वक, जिज्ञासुभावसे भारतीय-दर्शन और शास्त्रोंका गम्भीर अध्ययन तथा मनन किया जाना आवश्यक है।

—श्रीघनश्यामदास शर्मा

(२)

महामृत्युंजय और षोडशनाम-महामन्त्र-जपका चमत्कार

बात अभी थोड़े दिनों पहले (गत जनवरी १९७७)-की है। जब मैं अपने निवास-स्थान भांजानगर, जिला गंजाम (उड़ीसा)से अपनी धर्मपत्नी और तीन वर्षीय भतीजीके साथ कुम्भ-स्नान-हेतु प्रयाग गया था। त्रिवेणी-संगमपर स्नानार्थ हमलोग माघ कृष्ण ३० (मकर-अमावस्या, बुधवार) दिनाङ्क १९ जनवरी, ७७ को ही कुम्भनगर पहुँचे। उस दिन भारी वर्षा, अत्यधिक भीड़ और रास्तेमें बेशुमार कीचड़ तथा दलदल होनेके कारण हमलोग संगमपर यथास्थान पहुँचकर स्नान नहीं कर सके। साहस ही नहीं हुआ और उसी दिन बसद्वारा श्रीजगन्नाथधाम (पुरी)के लिये वापस रवाना हो गये। श्रीजगन्नाथ प्रभुके दर्शन करनेके पश्चात् जब हमलोग बसद्वारा अपने घर लौट रहे थे तो उसी समय रास्तेमें—बसमें ही, मेरी नन्हीं भतीजी (संगारिका)को ज्वर हो गया।

घर आनेपर बच्ची १८ दिनोंके जबरदस्त म्यादीज्वर (Typhoid)से ग्रस्त हो गयी। मैंने उसका होम्यो-पैथिक उपचार कराया; परंतु कोई लाभ न हुआ। हमारी चिन्ता (घबराहट) बढ़ने लगी। उसका ज्वर दवासे घटनेके बजाय बढ़ता ही जा रहा था। जब ओषधि-उपचार व्यर्थ सिद्ध होने लगे और बच्चीको लेश-मात्र भी लाभ पहुँचता प्रतीत न हुआ तो हमलोग मन-ही-मन अत्यन्त व्याकुल हो उठे और सब प्रकारसे हताश और अधीर होकर हमने बालिकाके जीवन-रक्षार्थ अब भगवान्की आराधना करनेका निश्चय किया। हमारे सामने इस समय और कोई उपाय और आधार भी नहीं था।

अपने विश्वासके अनुसार हम दोनों पति-पत्नीने भगवान्के षोडशाक्षर-नाम-महामन्त्रकी १०८ माला तथा महामृत्युंजय-मन्त्रका जप आरम्भ कर दिया। लगभग ५ दिनोंतक हम नियमित रूपसे लगातार दृढ़तापूर्वक, श्रद्धा-विश्वाससहित, भगवन्नामजप, महामृत्युंजयका जप तथा स्तुति-प्रार्थना आदि करते रहे। भगवान्की ऐसी कृपादृष्टि हुई कि जप आरम्भ करनेके दूसरे ही दिनसे ज्वर धीरे-धीरे कम होने लगा और अन्ततः पाँचवें दिन तो वह सर्वथा उतर गया। भगवान्ने हमारे दुखी हृदयोंसे निःसृत वाणीद्वारा किये हुए जपको कृपा करके श्रेय प्रदान किया। हमारे दुःखित अन्तःस्थलसे निकली सच्ची प्रार्थनाको उन्होंने सुन लिया। हमने गद्गद हृदयसे भगवान्को धन्यवाद दिया। बच्चीकी आत्मरक्षा ही नहीं हुई, वरन् अब शनैःशनैः स्वस्थ भी होने लगी। भगवत्कृपासे आज वह बालिका पूर्ण स्वस्थ है।

इस छोटी-सी घटनाने भगवान्के षोडशाक्षर-महामन्त्र और महामृत्युंजय-जैसे अमोघ-मन्त्रके प्रति हमारी आस्थाको और भी अधिक दृढ़ बना दिया है। अब हम और भी अधिक श्रद्धा-भक्ति-सहित नित्य-प्रति ही नियमित रूपसे भगवान्के इन परम पावन नाम-मन्त्रोंका जप तथा पाठ किया करते हैं। हमारे दैनिक जीवनमें इन दोनों महामन्त्रोंने अब अपना प्रमुख स्थान बना लिया है। फलस्वरूप हमें अमित लाभ मिल रहा है। कोई भी भाई-बहिन इन दोनों महामन्त्रोंका जप नित्य-प्रति भगवदर्थ श्रद्धा-विश्वासपूर्वक करें तो उन्हें भी निश्चितरूपसे (भौतिक तथा आध्यात्मिक) शान्ति प्राप्त होगी, ऐसा हमारा दृढ़ (अनुभवजन्य) मत है। इसी आधारपर हमारी सभी श्रद्धालुओंसे इसे काममें लाने और भगवन्नामरूप इस दिव्य मन्त्र-शक्तिसे लाभान्वित होनेकी विनीत प्रार्थना है।

—जानी सुन्दरबाबू प्रस्थी, भांजानगर—गंजाम, (उड़ीसा)

(३)

श्रीहनुमानूजीकी कृपावत्सलता

घटना पुरानी है और अपनेपर ही बीती हुई । मैं उस समय जपला (पलामू) स्टेशनपर स्टेशनमास्टरके पदपर था । किसी सरकारी आवश्यक कार्यसे एक दिन डिवीजनल-सुपरिन्टेन्डेण्ट-आफिस दानापुर आया था । संध्या समय एक शटल गाड़ी दानापुरसे पटना-जंकशन जाती थी । अपना कार्य निपटाकर मैं उसी गाड़ीमें आकर निश्चिन्त होकर बैठ गया । उसी डिब्बेमें मेरे परिचित, तरेगनाके स्टेशन-मास्टर एक बंगाली सज्जन भी पहलेसे ही बैठे हुए थे । परिचयके फलस्वरूप हम दोनोंमें बातचीत होने लगी । गाड़ी खुलनेका समय आया तो मेरे मित्र स्टेशन-मास्टरने पूछा—'आपने टिकट या पास ले लिया है न ?' मैंने नकारात्मक उत्तर दिया तो वे सहम गये ।

उन्होंने मुझे यह कहते हुए भयभीत किया कि 'पटनामें स्पेशल-चेकिंग है; जो कलकत्ता हेडआफिस-से नियुक्त होकर आयी है, उससे किसीका बचना असम्भव है ।' यह सुनकर मैं गाड़ीसे उतरना ही चाहता था कि तभी मैंने देखा कि पेग साहब अपने चेकिंग-स्टाफके साथ एकाएक प्लेटफार्मपर आकर गाड़ीमें सवार हो गये । स्वयं पेग साहब अपने तीन-चार सहयोगियोंसहित हमारे डिब्बेमें ही चढ़ आये थे । इस स्थितिमें मैं चाहते हुए भी डिब्बेसे उतर न सका और गाड़ी सीटी देकर चल दी । मेरे लिये यह विकट परिस्थिति थी । मैं अब हर तरहसे भयंकर आपदामें फँस गया था । स्टेशनमास्टर हो करके बिना टिकट या पासके यात्रा करना एक भारी गुनाह था । उसका दण्ड तो मुझे मिलता ही, नौकरीसे भी हाथ धो बैठना प्रायः निश्चित था । पेग साहबके बारेमें सुन रक्खा था कि वे किसीको भी छोड़नेवाले आफिसर न थे । कहा तो यह जाता था कि वे अपने पुत्र या पत्नीको भी बिना टिकट या अधिकारपत्रके छोड़नेवाले न थे । वे अपने कर्तव्यके प्रति अत्यन्त सजग, ईमानदार और कड़े (दृढ़ स्वभावके अनुशासनपसंद) अधिकारी थे । मेरी हालत बड़ी दयनीय—'दुहु प्रकार भइ मृत्यु हमारी' जैसी हो रही थी । मैं इस आकस्मिक विपत्तिसे घबड़ा गया । बचनेका और कोई उपाय न देख सब प्रकारसे हताश और निराश हो गाड़ीमें ही बैठे अत्यन्त विकल मनसे मङ्गलमूर्ति भगवान् मारुति (महावीरजी)की स्तुति और आराधना रो-रोकर करने लगा ।

मेरे मित्र भी इस समय किंकर्तव्यविमूढ़ थे । पेग साहबकी चेकिंग प्रारम्भ थी और वे मेरे पास पहुँचनेहीवाले थे कि गाड़ी फुलवारीशरीफ आ पहुँची । तभी एक बड़े आश्चर्यकी बात हुई कि एक अपरिचित व्यक्ति सहसा मेरे पास आया और उसने धीरेसे मुझसे पूछा—'क्या आपके पास टिकट नहीं है ?' मैंने कहा 'जी, नहीं ।' वह एक टिकट मेरे हाथमें रखकर अन्य यात्रियोंके साथ फुलवारीशरीफपर उतर गया । उसने मुझको कोई प्रश्न करनेका मौका ही नहीं दिया । जब मैंने टिकटको देखा तो मेरे आश्चर्यका ठिकाना न रहा । यह टिकट फुलवारीशरीफसे पटनाका था । मैं अब गाड़ीके डिब्बेमें उस दयालु पुरुषकी खोज करने लगा । परंतु उसका कोई पता नहीं लगा । वह तो गाड़ीसे उतरनेवाले यात्रियोंकी भीड़में ही न जाने कहाँ विलीन हो गया । उसके प्रति कृतज्ञभावसे दबा मैं उसे देखता ही रह गया । किंतु सहसा दूसरे ही क्षण मुझे विश्वास हो गया कि यह उन संकट-मोचन श्रीहनुमान्-जीकी ही असीम कृपा थी, जिन्होंने मेरी करुणप्रार्थना सुनकर मेरे संकटका निवारण इस रूपमें किया ।

मैं उन दयालु पवनपुत्रकी कृपा-वत्सलताका प्रत्यक्ष अनुभव करके, आत्मविभोर हो, उन्हें बार-बार धन्यवाद देने लगा । श्रीहनुमान्जीके विषयमें यह सत्य कितना प्रबल और मननीय है कि—

संकट ते हनुमान छुड़ावै । मन क्रम बचन ध्यान जो लावै ॥

धन्य हैं भगवान् मारुति और उनकी अमोघ कृपावत्सलता ।

(—श्रीराधाप्रसाद बारी, अवकाशप्राप्त स्टेशनमास्टर)

पुरुषोत्तममासका महत्त्व एवं कर्त्तव्य

संक्रान्तिरहित मासको अधिकमास, मलमास या पुरुषोत्तममास कहते हैं। शुक्ल यजुर्वेद (२२।३०।१३) के 'मलिम्लुचाय स्वाहा' तथा ऋक्० (१।१५।८) आदिमें मलमास या पुरुषोत्तममासकी महिमाका स्पष्ट उल्लेख है। अथर्व० (५।६।४) में इसे भगवान्‌का आवासगृह बतलाया गया है—'त्रयोदशो मास इन्द्रस्य गृहः।' शिवपुराण (२। ५ । २ । ५२) में भी इसका उपबृंहण हुआ है, जहाँ मलमास, अधिमास या पुरुषोत्तममासको साक्षात् भगवान् शिवका स्वरूप कहा गया है, वहाँ देवताओं-के वचन हैं—'*मासानामधिमासस्त्वं व्रतानां त्वं चतुर्दशी*' अर्थात्—प्रभो! शिव! आप महीनोंमें अधिमास एवं व्रतोंमें चतुर्दशी (शिवरात्रि) व्रत हैं। रघुनन्दनके 'मलमासतत्त्व' तथा बृहन्नारदीय एवं पद्मपुराणके नामसे प्राप्त होनेवाले पुरुषोत्तममास-माहात्म्यमें इसकी महामहिमा है। एक अधिमासके बाद पुनः दूसरा अधिमास २८से लेकर ३२ महीनोंके बीच पुनः पड़ता है और यह चैत्रसे आश्विनतकके महीनोंमें ही होता है। इसमें निष्कामकर्मोंकी ही अधिक महिमा है। अधिमासने तपस्या कर भगवान् विष्णुसे उनका 'पुरुषोत्तमनाम' प्राप्त किया था। इस प्रकार इसमें शिव-विष्णु दोनोंकी ही आराधना विहित है और यह दोनोंको ही परम प्रिय है। जो सौ वर्ष तप करनेका फल है, वह इसमें एक दिन ही व्रत-तप करनेसे प्राप्त हो जाता है—

सम्यक् चीर्णेन तपसा शतवर्षमितेन च।
यत्फलं लभते विप्र मासेऽस्मिन्नेकवासरात्॥

(पुरुषोत्तममास-माहा० १७।१८)

अन्य समयमें जो लक्ष (एक लाख) गायत्रीमन्त्र-जपका फल होता है, उतना इस मासमें किसी भी एक मन्त्र जपनेसे हो जाता है—

सावित्रिलक्षजापेन लभ्यते यत्फलं नरैः।
सकृन्मन्त्रजपेनैव मासेऽस्मिन्नुपलभ्यते॥

(पुरुषोत्तममास-माहा० १७।२१)

इसी प्रकार इसमें गीतापाठ, श्रीराम-कृष्णके मन्त्रों, पञ्चाक्षर शिवमन्त्र, अष्टाक्षर नारायणमन्त्र, द्वादशाक्षर वासुदेवमन्त्र आदिके जपका लाखगुना, करोड़गुना या अनन्त फल होता है—

द्वादशाक्षरमन्त्रोऽयं यो जपेत् कृष्णसंनिधौ।
दशवारमपि ब्रह्मन् स कोटिफलमश्नुते॥

(वही श्लोक २३)

पाँचों पाण्डव, द्रौपदी, सुदेव, शुकदेव, दृढधन्वा आदिने इसी मासमें धर्म-तपका अनुष्ठान कर परम सिद्धि प्राप्त की थी। इसमें भगवान्‌की पूजा, दीपदान एवं ध्वजादानकी भी बड़ी महिमा है। इससे अनेक प्रकारके सुख एवं स्वर्गलोककी उपलब्धि होती है—

तस्मात्सर्वात्मना कार्यो दीपः श्रीविष्णुमन्दिरे।

(वही १७।३६)

इसी प्रकार इसमें दान-धर्मादिकी भी बड़ी महिमा है। हेमाद्रिने प्रतिदिन भगवान्‌के अलग-अलग नामोंसे अन्नदानकी विधि बतलायी है। इसमें एक बार भी थोड़ा तिल दान करनेसे या उसके द्वारा हवन करनेसे मनुष्यको आत्मज्ञानकी प्राप्ति होती है और वह मुक्त हो जाता है—

तिलान् दत्त्वा सकृद्धुत्वा पुरुषोत्तमवासरे।
आत्मबुद्धिं प्रपद्याशु ब्रह्मलोके महीयते॥

(वही १८।२३)

—जा० श०

महाभागवत प्रह्लादद्वारा भगवान् नृसिंहकी स्तुति

हरिवर्षे चापि भगवान् नरहरिरूपेणास्ते । तद्दयितं रूपं महापुरुषगुणभाजनो महाभागवतो दैत्यदानवकुलतीर्थीकरणशीलाचरितः प्रह्लादोऽव्यवधानानन्यभक्तियोगेन सह तद्वर्षपुरुषैरुपास्ते इदं चोदाहरति । ॐ नमो भगवते नरसिंहाय नमस्तेजस्तेजसे आविराविर्भव वज्रनख वज्रदंष्ट्र कर्माशयान् रन्धय रन्धय तमो ग्रस ग्रस ॐ स्वाहा अभयमभयमात्मनि भूयिष्ठा ॐ क्ष्रौम् ।

स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया ।
मनश्च भद्रं भजतादधोक्षजे आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी ॥
मागारदारात्मजवित्तबन्धुषु सङ्गो यदि स्याद् भगवत्प्रियेषु नः ।
यः प्राणवृत्त्या परितुष्ट आत्मवान् सिद्ध्यत्यदूरान्न तथेन्द्रियप्रियः ॥
यत्सङ्गलब्धं निजवीर्यवैभवं तीर्थं मुहुः संस्पृशतां हि मानसम् ।
हरत्यजोऽन्तः श्रुतिभिर्गतोऽङ्गजं को वै न सेवेत मुकुन्दविक्रमम् ॥
तस्माद्रजोरागविषादमन्युमानस्पृहाभयदैन्याधिमूलम् ।
हित्वा गृहं संसृतिचक्रवालं नृसिंहपादं भजताकुतोभयमिति ॥

(श्रीमद्भागवत ५ । १८ । ७–११, १४)

"हरिवर्ष नामके खण्डमें भगवान् नृसिंहरूपसे विराजते हैं । भगवान्‌के उस प्रिय रूपकी महाभागवत प्रह्लादजी उस वर्षके अन्य पुरुषोंके सहित निष्काम एवं अनन्य भक्तिभावसे उपासना करते हैं । श्रीप्रह्लादजी महापुरुषोचित गुणोंसे सम्पन्न हैं तथा इन्होंने अपने शील और आचरणसे दैत्य और दानवोंके कुलको पवित्र कर दिया है । वे इस अर्थवाले मन्त्र तथा स्तोत्रका जप-पाठ करते हैं—ओंकारस्वरूप भगवान् श्रीनृसिंहदेवको नमस्कार है । आप अग्नि आदि तेजोंके भी तेज हैं, आपको नमस्कार है । हे वज्रनख ! हे वज्रदंष्ट्र ! आप हमारे समीप प्रकट होइये ! प्रकट होइये !! हमारी कर्म-वासनाओंको जला डालिये, जला डालिये ! हमारे अज्ञानरूप अन्धकारको नष्ट कीजिये, नष्ट कीजिये ! ॐ स्वाहा ! हमारे अन्तःकरणमें अभयदान देते हुए प्रकाशित होइये ! ॐ क्ष्रौम् ! नाथ ! विश्वका कल्याण हो, दुष्टोंकी बुद्धि शुद्ध हो, सब प्राणियोंमें परस्पर सद्भावना हो, सभी एक दूसरेका हित-चिन्तन करें, हमारा मन शुभ मार्गमें प्रवृत्त हो और हम सबकी बुद्धि निष्कामभावसे आप भगवान् श्रीहरिमें प्रवेश करे । प्रभो ! घर, स्त्री, पुत्र, धन और भाई-बन्धुओंमें हमारी आसक्ति न हो, यदि हो तो वह केवल भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंमें ही । जो संयमी पुरुष केवल शरीर-निर्वाहके योग्य अन्नादिसे संतुष्ट रहता है, उसे जितनी शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है, वैसी इन्द्रियलोलुप पुरुषको नहीं होती । इन भगवद्भक्तोंके सङ्गसे भगवान्‌के तीर्थतुल्य पवित्र चरित्र सुननेको मिलते हैं, जो उनकी असाधारण शक्ति एवं प्रभावके सूचक होते हैं । उनका बारंबार सेवन करनेवालोंके कानोंके रास्तेसे भगवान् हृदयमें प्रवेश कर जाते हैं और उनके सभी प्रकारके दैहिक और मानसिक मलोंको नष्ट कर देते हैं । फिर भला, उन भगवद्भक्तोंका सङ्ग कौन न करना चाहेगा ? अतः असुरगण ! तुम तृष्णा, राग, विषाद, क्रोध, अभिमान, इच्छा, भय, दीनता और मानसिक संतापके मूल तथा जन्म-मरणरूप संसारचक्रका वहन करनेवाले गृह आदिको त्यागकर भगवान् नृसिंहके निर्भय चरणकमलोंका आश्रय लो ।'